हिन्दी शीराज़ा

जे. एण्ड के. अकादमी ऑफ़ आर्ट कल्चर
एंड लैंग्वेजिज़, जम्मू

द्विमासिक शीराज़ा हिन्दी

वर्ष : २१ फरवरी-मार्च १९८६ अंक : ६

७८
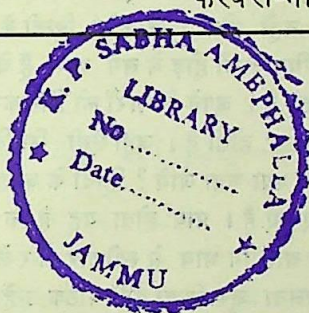
अपनी बात

पिछले दिनों मेरे कुछ मित्रों ने अचानक घोषणा की कि वे साहित्य से संन्यास ले रहे हैं। मेरा चौंकना स्वाभाविक था। कुरेदने पर पता चला कि ये सभी मित्र एक हताशा का शिकार होकर इस निर्णय पर पहुंचे हैं। उन्हें, जो कुछ वे लिख रहे हैं, उसकी कोई उपयोगिता दिखाई नहीं देती। वे भविष्य को लेकर चिन्तित हैं और मानते हैं कि उनका लेखन इस दिशा में उनकी थोड़ी भी सहायता कर पाने में असमर्थ है। वे जिसके लिए लिखते हैं, वह उसे पढ़ने में समर्थ नहीं है। जो पढ़ने में समर्थ हैं उनके पास विचार-विमर्श के लिए समय नहीं है और जो इन दोनों साधनों से सम्पन्न हैं उन्हें मानव जाति के भविष्य की तुलना में अपने भविष्य की चिन्ता अधिक व्यापती है। प्रायः सभी लोग विचार के स्तर पर वर्ग-संघर्ष की लड़ाई लड़ रहे हैं किन्तु व्यक्तिगत जीवन में उनकी यह लड़ाई उसी तथाकथित बुर्जुआ क्लास में शामिल होने के लिए है जिसके खिलाफ वे धुआंधार भाषण करने का कोई भी अवसर हाथ से जाने नहीं देते। साहित्य में चरित्र को दोहरेपन को बेनकाब करने वाले लोग खुद दोहरेपन के शिकार हैं। ऐसे में कवि सर्वेश्वर की यह पंक्तियां याद आ रही हैं—

हर जानकारी में बहुत गहरे
ऊब का एक पतला धागा छिपा होता है
कुछ भी ठीक से जान लेना
खुद से दुश्मनी ठान लेना है

मुझे लगता है साहित्य से संन्यास लेने की बातें करने वाले मेरे मित्रों ने अपने कुछ समकालीनों के छद्म को पहचान लिया है। लेकिन यदि सचमुच ऐसा ही है तो उन्हें सबसे पहले यह तय करना होगा कि शत्रुता का भाव उन्हें स्वयं के प्रति जगाना है या उन लोगों के प्रति जो साहित्य को भी एक सीढ़ी के रूप में इस्तेमाल करते हैं? उन्हें यह भी सोचना होगा कि जो कुछ वे लिख रहे हैं वह बन्दूक से निकली गोली नहीं है कि निकलते ही तत्काल प्रभाव दिखायेगी। साहित्य की दुनिया का गणित इससे कहीं अलग होता है! इसमें तत्काल परिणामों की अपेक्षा करना गलत होता है। तत्काल तो हम स्वयं भी अपने साहित्य के प्रति तटस्थ नहीं हो पाते फिर दूसरों से इसकी अपेक्षा करें तो क्योंकर? यहीं इस तथ्य पर भी

विचार करना होगा कि हमारी जानकारी के साधन कितने सीमित हैं। एक आम भारतीय प्रतिक्रिया से शून्य होता जा रहा है। व्यक्तिगत बातचीत में वह समाज की, संस्कृति की तथा राजनीति की गिरती हुई दशा पर घंटों बोल सकता है किन्तु अपने इन विचारों को उपयुक्त क्षेत्रों में पहुंचाने से कतराता है। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करना चाहें तो हिन्दी का ही उदाहरण लें। प्रायः पत्र-पत्रिकाओं में हिन्दी के विरोध में जो लेख निकला करते हैं उनका प्रत्युत्तर देने के लिए इक्का-दुक्का ऐसे लोगों के पत्र पढ़ने को मिलते हैं जिनका प्रायः हिन्दी की रोज़ी-रोटी से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। जो लोग हिन्दी के नाम पर विदेश यात्राएं करने, पुरस्कार जुटाने और पद हथियाने की होड़ में लगे रहते हैं वे इस प्रकार के लेखों के प्रति अन्यमनस्कता का भाव रखते हैं। अपने विचारों को लिखकर देने में; हिन्दी की खुलेआम वकालत करने में इन्हें झिझक होती है। जहां ऐसी स्थिति हो वहां लेखक अपने पाठक से संवाद की आशा रखे तो इसे क्या कहा जाये? हिन्दी के बहुत कम ऐसे लेखक हैं जो लगातार पाठकों से सम्वाद बनाए हुए हैं। प्रायः होता यह है कि जो पाठक सिर्फ प्रशंसा का टानिक पिलाते हैं उन्हें लेखक आत्मीय भाव से स्वीकार कर लेते हैं किन्तु जहां पाठकों ने उनके लेखन में मीन-मेख निकालना शुरू किया वहीं पाठक उन्हें पूर्वग्रह से ग्रस्त दिखाई देने लगता है। आज के लेखक को ऐसा लगता है पाठक के साथ बराबरी का संबंध प्रिय नहीं लगता। ऐसी स्थिति में सम्वाद का टूटना स्वाभाविक है। जो लोग दूरदर्शन का विरोध करते हैं सो इसी कारण से कि वहां एकतरफा ट्रेफिक का चलन है। श्री विपिन कुमार अग्रवाल के शब्दों में कहें तो वहां 'सोर्स' और 'सोर्स' का सम्बन्ध न रहकर 'सोर्स' और 'सिंक' का सम्बन्ध है जिसे किसी भी स्थिति में कल्याणकारी नहीं माना जा सकता। भविष्य के संदर्भ में श्री विद्यानिवास मिश्र की भाषा को लेकर जो चिन्ता है वह भी हिला देने वाली है। हम अपने लेखन के माध्यम से किस भाषा का निर्माण कर रहे हैं? जीवन के अन्य क्षेत्रों में व्याप्त भेड़-चाल को इधर के साहित्य में सहज ही लक्षित किया जा सकता है। मां, बच्चा, चिड़िया, पेड़ आदि प्रतीकों का प्रायः प्रत्येक कवि की कविता में एक-सा उपयोग आखिर किस तथ्य की ओर संकेत करता है? यह एक चुनौती है जिसे स्वीकार किए बिना आगे बढ़ने का विकल्प हमारा नहीं हो सकता। रचना में ही नहीं भाषा में भी निज की परछाईं की झलक दिए बिना अपनी सार्थक पहचान का लक्ष्य प्राप्त नहीं होगा—इस सच्चाई को हमें खुले मन से स्वीकारना होगा।

बात मित्रों की घोषणा से आरम्भ हुई थी और भविष्य की चिन्ता में भटक गयी। हमारी विडम्बना यही है कि जिस भविष्य पर हमारा कोई वश नहीं, हम दिन-रात उसी की चिन्ता करते हैं। इस चिन्ता के कई आयाम हैं। जहां भविष्य की चिन्ता प्राणी मात्र को नए-से-नए सोपान तय करने की प्रेरणा देती है वहां इसकी चिन्ता हमें एक भरे-पूरे वर्तमान को उसकी सम्पूर्णता में जीने से वंचित रखती है। साहित्य में भी भविष्य पर दृष्टि टिकाए मसीहा लोग कभी उपन्यास के मरने की घोषणा करते हैं तो कहीं कहानी के पुनः चर्चा के केन्द्र में लौट आने की। कुछ के लिए कविता की वापसी उत्सव का सामान जुटाती है तो किन्हीं दूसरे लोगों के लिए कविता का कविता से खाली होते जाना चिन्ता का विषय बनता जा रहा है। बहरहाल, कारण कुछ भी क्यों न हों—भविष्य की चिन्ता करना, उसमें रस लेना हम सबको प्रिय लगता है। अब यह दीगर बात है कि भविष्य की चिन्ता करते हुए हम लगातार संघर्ष करते रहते हैं या कि पलायन का सुविधाजनक रास्ता चुन लेते हैं?

—रमेश मेहता

लेख

भाषा का भविष्य और साहित्य का भविष्य

□ विद्यानिवास मिश्र

भाषाविज्ञान के क्षेत्र के भविष्यद्वादी एक चौंकाने वाली भविष्यवाणी करते हैं कि इक्कीसवीं सदी में, जिसकी चर्चा से डर कर बीसवीं सदी आयुशेष रहते हुए भी भूत बन गयी है, संसार में कुल दस भाषायें बची रहेंगी। शेष समाप्त हो जायेंगी, उनके अवशेष संग्रहालयों में सुरक्षित मिलेंगे, शोध के लिए नहीं केवल तमाशे के लिए क्योंकि तब तक उनके ऊपर शोध व्यर्थ हो चुका होगा और तब तक उनको सौंपी गयी साहित्यिक थाती से सिड़ीपन की दुर्गन्ध उठने के कारण उसे कागज फूंक चिमनी को सौंप दिया जा चुका होगा। उस भविष्यद्वाणी ने हिन्दी के ऊपर कृपा की है—हिन्दी उन दस में से एक भाषा रहेगी। हम इस भविष्यवाणी को प्रताप भी मानें तो कुछ चीजें सामने हैं, उनकी अनदेखी कैसे कर सकते हैं। कुछ चीजें एकता और अखंडता के नाम पर अपने ही देश में घटित हो रही हैं, उनकी उपेक्षा कैसे करें, उदाहरणार्थ ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकों को तैयार कराने के लिए व्यवस्था पैसा दे रही है और शर्त रख रही है कि हमने जो कोष तैयार किया है, उसी के शब्द लेने पड़ेंगे और हमने जो शब्द अपनी कमेटी-टकसाल में तैयार किये हैं उनमें लातिनी भाषा की तो ग्रीवा है, यूनानी का मस्तक है, संस्कृत की धड़ है और देशी भाषा की पूंछ है, वे ही प्रतिमान माने जायेंगे। आपकी मनमानी नहीं चलेगी, आपकी भाषा होगी पर शब्द हमारे होंगे। हम यह भी देख रहे हैं कि हिन्दी के प्रोफेसर हिन्दी साहित्य के इतिहास से मध्ययुग और मध्ययुग की साहित्यिक भाषाओं को अलग कर देने पर उतारू हैं। वे साहित्यिक बृज, साहित्यिक अवधी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी के शब्द संकलन और उसके कोशनिर्माण को विखण्डनकारी आयास मानते हैं। यह भी देख रहे हैं कि शब्द सचमुच देखते-देखते अन्तर्धान होते जा रहे हैं, लोकोक्तियां, मुहावरे तो जाने कब घोंसलों में दुबक गये हैं, किसी से किसी रंग का नाम पूछिए तो वह झट से दिपते विज्ञापनों से शब्द लेकर दो-चार रंग बतला देगा पर फालसाई रंग कैसा है, कोकटी रंग कैसा है, उजले में कपूरी और मोतिया में क्या अन्तर है, नहीं बता पायेगा। 'कुछ-इस' लगाकर अनुमान कर लेगा। इससे भी भयावह (भयावह हमारे-आपके लिए, संगणक या संगणक के उत्पादक, प्रयोजक या विनियोजक के नहीं) स्थिति यह है कि हमारी आपकी भाषा, भाषा के चुने हुए प्रतिरूपों को समर्थतर लोगों की भाषा के चुने हुए समानान्तर प्रतिरूपों में कुछ कांट-छांटकर, कुछ भरपूर ढालने पर जो बदशक्ल

ईंटें निकली हैं या निकलेंगी उन्हीं से पक्की इमारत बन सकेगी, कच्ची इमारत की एक तो इजाजत न होगी, होगी भी तो केवल इंडिया फेस्टिवल में फोक बैक ग्राउंड के लिए। तकनीकी का चौरस करने वाला हाथी बेलन, एकरूपता के लिए भाषा की ऊंचाई या गोलाई या कोर रहने नहीं देगा। आप जिन गूंजों-अनुगूंजों की ढेरी से कभी कुछ, कभी कुछ धीरे से सरका कर अपने मन की सिरकी निकाल सकते थे और अपनी सीतलपाटी में अपनी बेल बुन सकते थे, वह ढेरी ऐसी मशीन में डाल दी गई है जहां कम आकृतियों या संख्या वाली सिरकियां छांट दी जायेंगी और मंझले बहुतायत वाले आकार की सिरकियां करीने से सौ-सौ की पूलियों में बांधकर सजा दी जायेंगी। आपको तब भी चयन की स्वतंत्रता रहेगी, उन बेलों में से एक या एक से अधिक चुनने की जिन्हें संगणक ने पहले से आपका श्रम बचाने के लिए तैयार कर रखा है, आपको फलानी दादी से, चाची से बेल-बूटी सीखने जाने की जरूरत नहीं रहेगी, न आपको श्रम करना पड़ेगा। धीरे-धीरे बहुत-सी ऐसी गूंजें और उनसे भी अधिक उनकी अनुगूंजें जिनके कारण आधे-अधूरे आदमी भी पूरे होने की तमन्ना कर सकते थे; आपको असुरक्षा का भय दिखाकर आपसे ही लाकर में जमा करा दी जायेंगी और आप उसकी जमा-कराई अदा करते रहेंगे, पर आप उनका उपयोग करना भूल जायेंगे। भूलों के लिए आपको ढेर सारी याद करायी जा रही चीजें ही लाचार कर देंगी, मनुष्य में जिजीविषा जो होती है, जीने का सवाल है, गूंजों के कारण लुटने-पिटने का जोखिम कौन लेगा।

कृपालु भविष्यद्वक्ता ने जाने क्यों दस भाषाओं की जान बख्शी। लगता तो यह है कि मालिकों या मालिक घरानों की कुल ढाई भाषाओं के कंकाल की प्लास्टिक अनुकृतियां मात्र रह जायेंगी। शेष रहेंगी तो उनका अनुवाद बनकर, प्रत्यक्षर अनुवाद बनकर। छोटे बाबू बाबु-आन तो 'हमहूं सजनी राजकुमार' के भाव में आविष्ट होकर मालिक हों न हों, मालिकों की भाषा निखालिस उन्हीं के लहजे में बोलेंगे ही। लोग कैसा बोलते हैं, क्या समझते हैं यह लोग भी भूल जायेंगे, उद्घोषक कैसे समाचार पढ़ता है, अमुक सितारा या तारिका कैसे बोलती है, यही प्रामाणिकता का आधार रह जाए तो भी गनीमत होगा यह कि उनसे बोलने वाला जैसा बोल-वाना चाहेगा वह प्रमाण बन जायेगा और वह भी कोई राजा रानी होता, ओझा-सोखा होता, ज्ञानी गुरु होता तो भी कोई बात थी, वह चेहराहीन एक आदमी होगा जिसे कुछ तथ्य दिये गये होंगे, कुछ सांकेतित कार्ड दिये होंगे और उसे आदेश संकेतों की तालिका और विधि दे दी गयी होगी। वह बस एक बार मशीन चला देगा, जो मशीन से निकलेगा वह उसके लिए भी प्रमाण हो जाएगा।

पर शायद यह अतिरंजना लगे, रचनाकार को कभी भी लगे कि जाने तो कितनी मन-मानी करने की छूट है और पुराने लोगों के रोकने से कितनी राहत है कि कुछ भी लिखे। और कह दो, यह भी चलता है या नहीं भी चलता था तो अब हम चला रहे हैं, चलेगा, पर दस वर्षों की भी साहित्यिक भाषा की यात्रा की पैमाइश आप करें तो लगेगा कि नकल तो पहले भी होती थी, पर आज जितनी तेजी से और जिस मात्रा में किसी एक भंगिमा की नकल होने लगती है उतनी पहले नहीं होती थी और आज जितनी तेजी से बासीपन आता है मुहावरों में, ठंडाघर में सुरक्षित रखे मुहावरों में उतना पहले नहीं आता था और बुढ़ापा जल्दी आने लगा है—कविता में, कहानी में और तब आप जरूर सोचना चाहेंगे कि हम अपने ही समय में क्यों व्यतीत हो रहे हैं और तब आपको कारण या निदान दिखेगा, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तो है पर वह अभिव्यक्ति ही अपनी नहीं है। मुझे स्मरण है इसी देश में हम और हमारा समय विषय पर रंगों को स्याह

रंग में घोलने वाली व्यवस्था के साये में, कुछ वर्ष पूर्व चर्चा हुई थी और स्वस्ति की सांस लेते हुए एक सयाने आगमजानी विचारक ने कहा था कि अब लोग चिरई-चुरुंग पर कविता लिखेंगे, अब खामख्वाह विप्लव की बात कोई नहीं करेगा और लोगों ने चिरई-चुरुंग पर लिखा भी पर वे चिरई-चुरुंग भी मार दिये गये। उनके भीतर का सब कुछ निकाल कर (सड़ा गला ही तो था) भुस भर दिया गया, भुस भी अनाज का नहीं, प्लास्टिक का और चिरई-चुरुंग कुछ ज्यादा ही सजीव, कुछ ज्यादा ही बोलते हो गये; उनसे दहशत होने लगी। लोगों ने लड़ने की बात भी की पर अनदिखे शत्रु के खिलाफ और वह लड़ाई स्वेच्छा से वन्दयीकरण के लिए प्रस्तुत हो गयी। प्रश्न है क्या हम डर जायें? क्या सम्प्रेष्य होने के लिए हम स्वयं यंत्र बन जायें, चित्रात्मक भाषा के यांत्रिकता तोड़ने वाले स्वभाव को बिसरा दें या बस गीली हुई आंखों की नमी में अपनी पूरी-पूरी मंजूरी पाकर और लिखें, यन्त्र के पंख से उतरकर लिखें। एकाएक दो टूक उत्तर हम नहीं दे सकते। हम अर्थात दो विश्वों की भारी नाव पर सवार तथाकथित तीसरे विश्व के लोग, अभी हमारा पेट नहीं भरा है। तकनीकी सुविधाओं से, और हम अपनी संस्कृति का मोह-छोह भी नहीं छोड़ना चाहते। वह हमारी पहचान है उसे खोना नहीं चाहते, पर उसे अपने से अलग भी रखना चाहते हैं। वक्त-बेवक्त उसका मुखौटा लगाकर निकलने और उसे फिर उतारकर सहेज कर रखने का अधिकार तो हम सुरक्षित चाहते ही हैं। पर जहां आप खड़े हैं, वहां उत्तर हां है या नहीं, चुप रहने से, किन्तु-परन्तु लपेट उत्तर देने से चलने वाला नहीं है। आप अगर चिरई-चुरुंग की बात करते हैं तो आप मखौल के पात्र हैं, यह कहने वाले आलोचक से डरकर ऐसी बातचीत बन्द कर देते या एक ललकार पाकर विप्लव की बनैठी भांजने लगते हैं तो आपसे मुझे कुछ नहीं कहना है क्योंकि आप प्रश्न के घेरे से भाग रहे हैं किन्तु आप अगर आत्मीयता के अन्वेषण के लिए सचमुच चिन्तित हैं तो यांत्रिकता को जीते हुए भी यांत्रिकता का आपको निषेध करना ही होगा। इस निषेध से कतरा नहीं सकते। न केवल निषेध करना होगा, आपको खण्डित की जा रही, समीकृत की जा रही गूंजों की, अनुगूंजों की समग्र दृष्टि से परख एक बार और गहराई से करनी होगी। आप रामायण की गूंज सुनते हैं, सीता का उपयोग करते हैं, सीता को आधुनिक दृष्टि से अप्रासंगिक भी मान लेते हैं पर सीता की वह गूंज क्यों नहीं सुनते जहां वह अपने एक-निष्ठ प्यार के बावजूद अग्निपरीक्षा के समय राम से कहती है—

न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीड़ितः।
त्वया शुद्रेण मनसा स्त्रीत्वमेव तिरस्कृतम्॥

और उतने दूर भी न जायें तो वह अनुगूंज नहीं सुन सकते जहां वाल्मीकि आश्रम में सीता को मनाने आए राम का सीता मुंह भी नहीं देखना चाहती और धरती में समा जाती है, राम हाथ बढ़ाते हैं कि सीता को खींचें, हाथ में आते हैं खुले केश। राम के छूते ही तीखी नोंक वाले कुश बन जाते हैं। राम के हाथों से संवारे रेशमी तारों सरीखे केश उनकी ऐश्वर्य बंधी मुट्ठी को लहू-लुहान करने लगते हैं। ये सीता के केश विशाल आत्मोत्सर्गी मानवीय संवेदना के संकल्प बन जाते हैं। हम-आप इतने पास की गूंजें-अनुगूंजें क्यों नहीं सुनते? गूंज सुनने, अनुगूंज करने की प्रक्रिया आपने-हमने क्यों खोयी है। हम छटे-तराशे रूपाकारों, कोहबर की भीत से उकचा कर चिपकाये चित्रों को ही पूरी तस्वीरें मान अपनी बैठक सजाते हुए स्फीत ही स्फीत हो उठते हैं कि देखिए हमें अपनी अस्मिता की कितनी चिन्ता है।

शायद यह इसलिए घटित हुआ है कि हमने अपना एक अभ्यास खो दिया जिसका क्रम था आदमी पहले देखता था, आंखिन देखी और वह भी 'मानस चख देखी' के बिना पोथी के ज्ञान

को भी प्रमाणित नहीं मानता था, फिर वह उस देखे हुए को जीता था अर्थात् जिन्हें देखता था, उनके साथ जीता था, उनकी सांसों को सांसों में भरता था फिर वह सुनता था और अंत में बोलता था। आज बिना पूरा देखे या पूरे देखने की कोशिश किये, बिना जिये, बिना कठिन जीवन की घुटन में साथ दम घुटाये, बिना उसके उच्छ्वास में उच्छ्वास मिलाये, बिना ध्यानपूर्वक पूरी बात सुने उसकी गूंज और अनुगूंज के साथ सुने जो बोलास होती है वही इस खोखलेपन और अधूरेपन के मूल में है। हम जब एक बिम्ब, एक उपमान, एक शब्द, एक इशारा लेकर उनके समूचे सन्दर्भों को छोड़कर उड़ जाते हैं तो उनकी धार कुंठित कर देते हैं, क्योंकि सन्दर्भ से कटकर वे निर्जीव हो जाते हैं और कभी-कभी कुछ-कुछ उपमानों, बिम्बों, शब्दों को गंवारू और पिछड़ा मानकर अलग कर देते हैं। उस कारण अनुभव की सम्पूर्णता से निरन्तर वंचित होते रहते हैं। एक कथानक से बात स्पष्ट करूं। एक बहुत पढ़े-लिखे कमाऊ भाई ने बहन से बरसों बाद मिलने पर पूछा—बहना, तुम्हें मेरी याद आती थी तो कैसी आती थी। बहन बोली—भैया, जैसे जाड़े में सवेरे-सवेरे कुहनी की चोट। भाई नाराज़ होकर चला गया। क्या उपमा दी। बात आयी-गयी। बरसों बाद एक जाड़ा आया और उस जाड़े में भाई की एक दिन सवेरे अंधेरे में कोहनी भिड़ गयी किवाड़ की कोर से और सभी जड़ता को झकझोर देने वाली उस पीड़ा में बहन की बात याद आयी। तब उसे लगा बहन के लिए भाई की याद कितनी गहरी है, कितनी सजग है। हम उस सयाने भाई की तरह विशाल जातीय सजगता की पीड़ा का अर्थ नहीं ग्रहण कर पाते क्योंकि हमारा महसूसना या अनुभवना या भोगना बड़ा सतही है, हमारी दृष्टि बड़ी संकुचित है।

आप कहेंगे कि भविष्य की बात कब करेंगे। तो भविष्य की बात कर रहा हूं। भाषा के वर्तमान संकट को देखते हुए भाषा में ही इससे उबरने की सम्भावना है बशर्ते कि आप अपनी भाषा को पहचानें और पहचान की प्रक्रिया जारी रखें। आपने-हमने भाषा को उपेक्षणीय बना दिया है। उसे निरा माध्यम मान लिया है। पर वह आपकी सोच है आपकी जातीय बल्कि यहां जातीय स्मृति मति और पूजा है। इन तीनों प्रकार की प्रमितियों (भूतकालिक, वर्तमानकालिक और भविष्यत्कालिक) को समेटने और इनका अतिक्रमण करने वाली कालातीत प्रतिमा है, यह हम भूल गये हैं। हमें इसी से चेहरे टाइप दिखते हैं, चेहरे चेहराहीन दिखते हैं, नहीं तो सपाट से सपाट चेहरे पर पेशानी में एक अपना बल है जो दूसरे में नहीं है; यह जरूर पहचान सकते। यह नहीं कि हमने बामनदास को नहीं पहचाना, हीरामन गाड़ीवान को नहीं पहचाना···पर पहचान इतनी विज्ञापित की कि वे भी टाइप हो गये। भाषा की सारी लड़ाई टाइपीकरण के खिलाफ होनी चाहिए, साथ ही जीवित वस्तुओं का अंगच्छेद करके उन्हें संयोजित करके उनमें प्राणवत्ता का भ्रम पैदा करने के खिलाफ होनी चाहिए। ऐसी लड़ाई शुरू हो चुकी है। पिछले चार-पांच वर्षों के साहित्य में आदमी अपने को बटोरने लगा है भले ही इस अनुभव के रूप में हमारा एक हिस्सा वहां है जहां हम चाहते हुए भी नहीं पा रहे हैं। बस जोखिम वहां है, जहां ऐसी कोशिश किसी न किसी जाल में फंसा ली जाती है और वहां कोशिश सांचा बन जाती है। और मुझे आवश्यक लगता है कि साहित्य रचना के प्रति संचेत्य लोगों का पहला दायित्व है कि सांचेबाजी की साजिश के खिलाफ आवाज उठायें और मान-स्नेह की कीमत पर मिलने वाले चटकारे का लाभ छोड़ें और प्यार की सूखी रोटी रस पायें। दुर्योधन के घर का मेवा त्याग कर विदुर के घर का अलोन कामुआ का साग आरोगें। बिना अपने प्रति निठुर निर्मम हुए भाषा व्यापक रूप से सम्प्रेषण कर अपनी भाषा में सधती नहीं और यह निठुरता दूसरे के लिए आकुलता पर्युत्सुकता के कारण कन्हाई के प्यार की तरह अपने आप मीठी हो जाती है। □

(वत्सल निधि द्वारा मानसर (जम्मू) में आयोजित लेखक-शिविर में दिया गया व्याख्यान)

लेख

साहित्य का भविष्य

□ विपिन कुमार अग्रवाल

मैं बिल्कुल तय नहीं कर पाया हूं कि कहां से शुरू करूं। इसलिए थोड़ा समय चाह रहा था। यह कठिनाई मुझे इस वजह से भी है कि वास्तव में साहित्य के बारे में मुझे बहुत कम मालूम है। मेरे ऊपर आरोप लगाया गया है कि जो यहां पर बहसें हो रही हैं उन्हें बहुत महत्त्व नहीं दे रहा हूं। ऐसा नहीं है। मुझे सच में बहुत कठिनाई होती है, जो बातें यहां होती हैं उन्हें पूरा समझने में। जितनी आसानी से और जिन सधे हुए शब्दों में बहुत गूढ़ बातें आप सब कहते हैं, मुझे बहुत एकाग्र मन होकर उनको सुनना पड़ता है। जब पर्चा पढ़ा जाता है, तब आसान पड़ता है। उनके बाद बहस में कठिनाई होती है। जब उसमें डूबा रहता हूं, समझने में, तब सहसा कोई कहे कि प्रतिक्रिया दें तो इन कठिनाइयों की वजह से मैं बोल नहीं पाता। इसलिए नहीं कि कम महत्त्व दे रहा था, बल्कि ज्यादा महत्त्व दे रहा था। पूरा समझने की कोशिश कर रहा था। कमरे में लौट कर बहुत से शब्द लिख भी लेता था। उन्हीं शब्दों के आधार पर कुछ कहने की कोशिश करूंगा। उन्हें मैंने कैसे समझा है। कैसे समझ पाया हूं।

जैसी आज सुबह बात हुई, शायद एकदम आरम्भ में चले जाना अच्छा होता है। जब साहित्य का, आलोचना का, सारा जंजाल शुरू हुआ तब इसी सवाल से हुआ होगा कि हम क्या हैं? यह सवाल न पूछते तो यह प्रक्रिया आरम्भ ही न हुई होती। जैसे ही यह पूछा तो उसके साथ ही यह लगा कि अगर हम अपने को समझना चाहते हैं तो फिर अपने चारों ओर की जितनी पृष्ठभूमि है, जितना परिवेश है, जितना यथार्थ है, उसे भी जानना पड़ेगा। उसी पृष्ठ-भूमि में हम अपने को रखकर समझ पायेंगे। जब यह प्रश्न उठा तो पहला प्रश्न उसी में विलय हो गया। हम भी तो यथार्थ के हिस्से हैं। पूरे यथार्थ को समझने चलते हैं तो फैले यथार्थ को समझते हैं और अपने को भी। एक बड़ा प्रश्न बन गया कि यथार्थ क्या है? इस तरह की बातें यहां हुईं भी कि साहित्य यथार्थ को समझने की कोशिश करता है। अन्दर के भी, बाहर के भी।

यथार्थ तो बहुत जटिल है। जितना ही हम उसको समझने की कोशिश करते हैं उतना ही जैसे वह और जटिल दीखता जाता है। उसकी नयी-नयी पर्तें खुलती जाती हैं। हम यह

भविष्यवाणी कर सकते हैं, अब तक के अनुभव पर, कि जितना साहित्य लिखेंगे, जितना ज्ञान अर्जित करेंगे, जितना विज्ञान से उसके पास पहुंचेंगे, उतना ही अधिक जटिल यथार्थ दीखता जाएगा। साहित्य जटिल होता जाएगा, यह नहीं कह रहा हूं। यथार्थ अवश्य जटिल रूप में प्रस्तुत होता जाएगा, इतना ही।

जरा-सा उलट कर देखें इसे, तो एक समय था जब हम वास्तव में बहुत कम यथार्थ जानते थे। अनुभव ही हमारे बहुत कम थे। हमने कम देखा था। हमारे औजार कम थे। कम यथार्थ की खोज कर पाए थे। तब एक ही व्यक्ति बहुत से काम कर लेता था। दवा देता था, धर्म की बात कर लेता था, ज्योतिषी था और वैज्ञानिक भी। वह बहुत-सा काम अपने में समेट लेता था। इस अर्थ में वह हम से ज्यादा अच्छी स्थिति में था क्योंकि सभी भाषाएं उसके पास थीं—उस समय तक जितनी परिपक्व हुई थीं। जैसे-जैसे साहित्य, विज्ञान, आदि बढ़ते गए, यह मुश्किल होता गया।

साहित्य और विज्ञान दोनों ही अपने-अपने ढंग से यथार्थ की खोज करते हैं। सब मिला कर ज्ञान से यथार्थ की खोज है। इससे अलग मैंने दोनों को कभी नहीं माना, न अलग दीखे। यथार्थ के अलग-अलग पहलू वे उजागर करते हैं, या अलग-अलग जटिलता का ज्ञान वे हमें देते हैं। ज्ञान में दोनों को रख सकते हैं। दोनों दो भाषाएं हैं, बस। हम दोनों में रुचि रखें तो अच्छा है, कठिनाइयों के बावजूद।

अब प्रश्न है, हम खोज कैसे करते हैं? पहले हम मालूम करते हैं कि कितना हमें पता है। पढ़कर या कभी एहसास से। उसके बाद में हमने कुछ और देखा। जब कुछ और देखते हैं तो वह निश्चय ही अपरिचित होता है। तब हमको लगता है कि हमने कुछ और देखा। क्योंकि अगर परिचित ही देखा तो उतना तो जानते ही थे। उतना फिर से देख लिया। हो सकता है थोड़ा-सा जरा गौर से देख लिया। दुबारा देख लिया जो भूल गये थे। लेकिन जब अपरिचित का सामना करते हैं तो परेशान होते हैं। वह जटिल है क्योंकि अपरिचित है।

जटिल शब्द का दो अर्थों में प्रयोग होता है। एक तो वस्तु, या स्थिति स्वयं में जटिल है, उलझी हुई है। उसका आकार मुश्किल है। दूसरे कि वह अपरिचित है। एक जटिलता इससे भी आती है कि वह अपरिचित है। साधारण व्यक्ति के बनिस्बत लेखक हमेशा अधिक चौकन्ना रहता है। वह अपरिचित को खोजता रहता है, परिचितों के बीच नए सहसम्बन्ध को ढूंढता रहता है जब जैसे और जहां वह उसको दीख जाता है उसको छोड़ नहीं देता, बल्कि उस मौके को पकड़ लेता है। यह एक अपरिचित मुझे दिखा। लेकिन उसके साथ ही एक हमारे मस्तिष्क की सीमा भी है। जो हम जानते हैं, जो आकार हमने देखे हैं, या जो भाषा हमने जानी है, उसी के मदों में हम उस अपरिचित को समझ सकते हैं। अपने से कुछ नये की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। जैसे उस दिन किसी ने उदाहरण दिया था कि पूंछ किसी की है, धड़ किसी का, सर किसी का। चाहे जैसा अजीबोगरीब जानवर हम बनाएं पर हर अंग अलग से पूर्व परिचित है। बहुत-सी चीज़ों को मनमाने ढंग से बटोरकर रख सकते हैं, एक नयी चीज़ बना सकते हैं जो पहले नहीं थी, लेकिन उसका हर अंग पहले से परिचित होगा। दूसरे की प्रकृति या रचनाकार की बनाई हुई ऐसी चीज़ को जब हम पहली बार देखते हैं तब वह अपरिचित और जटिल लगती है। तभी यह प्रक्रिया शुरू हो जाती है कि उसको, जो हम जानते हैं, जो हमारा परिचित संसार है, उसके पदों में कैसे समझें, कैसे फिट करें, कैसे वर्णन करें, कैसे नाम दें। यह फिट करने की प्रक्रिया, या रचना-प्रक्रिया, जब शुरू हो जाती है तब जो भाषा हम जानते हैं उसके बहुत से शब्द (जैसे

छायावादी कविता की भाषा) और रंग-ढंग (जैसे छंद और तुक) बेकार लगने लगते हैं, फिट नहीं होते। उन शब्दों को छोड़ना पड़ता है। उस रंग-ढंग से हटना पड़ता है, क्योंकि रचनाकार ने अपरिचित को देख लिया है। उसे परिचित में कैसे अनुवादित करें? पूरी रचना-प्रक्रिया के विस्तार में जाने की जरूरत नहीं है। उसकी संरचना ऐसी ही होगी।

फिट करने का काम कठिन हो जाता है अगर रीति-रिवाज़ के कारण, धार्मिक या राजनैतिक वातावरणवश, या महज़ आलस्य में, परिचित भाषा में लोच नहीं है। दूसरी ओर अच्छा लेखक वही माना जाता है जो अपरिचित को परिचित में अनुवाद करता है तो इस तरह से कि न केवल उसने अपरिचित को समझा बल्कि सबने उसको समझ लिया। यदि केवल व्यक्तिगत मुहावरे में वह कह पाता है, और सबकी वह बात नहीं हो पाती, तो उसकी रचना एक अर्थ में असफल हो जाती है। लेकिन जब वह उसको ऐसे पदों में रख लेता है जो कि सबके अनुभव के हिस्से हैं, या हो सकते हैं, तब वह एक नयी दिशा में कदम रखता है।

सुविधा के लिए सर्वविदित पदों को अचल राशि का नाम दे लें। अचल राशि के उदाहरण हैं उस समय की बोलचाल की भाषा, रीति-रिवाज़, मिथक, इत्यादि। वह अचल इसी अर्थ में हैं कि व्यापक होने के कारण हम उन्हें मनमाने ढंग से बदल नहीं सकते। केवल समय उनमें जोड़-तोड़ कर सकता है।

त्याग-पत्र की भाषा अचल राशि को फिट करने का एक सशक्त नमूना है। बात कुछ के बीच में नहीं बनी है, सबके बीच में बनी है। इसलिए नये ढंग से बनी है और देर तक बनी रही है।

अचल राशि का संदर्भ कुछ भी हो सकता है, गांव, शहर, प्रांत, भारत, पूरा एशिया, या पूरा संसार। लेखक किन सहसंबंधों को देख, सुन या बना पा रहा है···इस पर निर्भर होगा उसका अचल राशियों का चुनाव। इसके लिए कोई नियम नहीं हैं। प्रांतीय अचल राशियों का उपयोग करके एक रचना महत्त्वपूर्ण और आधुनिक हो सकती है और दूसरी रचना संसार-व्यापी चल राशियों का उपयोग कर मामूली और दकियानूसी। प्रश्न है क्या कहां फिट किया, कितनी कुशलता के साथ।

कल बात हो रही थी कि हम पूरे देश को लेकर क्यों नहीं लिख रहे हैं। पूछना चाहूंगा कि पूरे एशिया की बात हम क्यों नहीं सोच रहे हैं, अगर ऐसे प्रश्नों का कोई अर्थ है तो। जब टी० एस० इलियट लिखते हैं तो पूरे यूरोप के लिए। वे यह तय करके नहीं बैठते कि अब पूरे यूरोप के लिए लिखूंगा। पर उन अचल राशियों का उपयोग करते हैं जो पूरे यूरोप में गूंजती हैं। ज़रूरत पड़ी तो भारत से भी लेते हैं। उनकी रचना कहीं हमें भी छूने लगती है।

जो राशि जितनी अचल होगी उतनी ही कम मुड़ेगी और उतना ही अधिक नया रंग-ढंग अपनाना पड़ेगा फिट करने के दौरान। अचल राशियों में अपरिचित खोज को बांधना सृजन का एक पहलू है। और पहलू भी हो सकते हैं। यहां मेरे लिए यही पक्ष महत्त्वपूर्ण है।

वह भाषा साहित्य की हो जाती है जो फिट होने में माहिर हो जाती है। रोज़ के व्यवहार की भाषा जीवन के साथ बदल जाती है और अपने समय की अचल राशि बन जाती है। बनी साहित्यिक भाषा में लिखने का लालच भाषा को बचा लेता है। उसमें चौकस न बैठने वाले-और उसके चश्मे से न दीखने वाले अनुभव को रद्द कर देता है। इससे उबर कर जब लेखक अपने अनुभव के अनुरूप बोलचाल की भाषा से, अतः अचल राशि से, जूझता है, तब वह साधता है, चुनता है। जब हम कहते हैं चाय लाओ, कॉफी लाओ, तब चुनाव नहीं करते होते हैं, बस

अपना काम बनाना चाहते हैं। पर जब कवि चुनता है, साधता है, तो ऐसे कि शब्द ही उसकी आंख बन जाए। वह सबकी आंखों से इस अर्थ में देखने लगता है। जितना ही साधारण प्रयोग में आने वाला शब्द लेगा उतनी ही उसकी सम्भावना अधिक हो जाएगी। ऐसी कोई लाचारी नहीं है। वह ज़रूरत के अनुसार अपने चुनाव करेगा।

इस बात को आगे बढ़ाना है तो कई भाषाओं की बात को उठाना होगा। मैंने आरम्भ में कहा था कि शुरू का मनुष्य ज्यादा अच्छी स्थिति में था। जैसे-जैसे हमें जटिलता का साक्षात्कार होता गया वैसे-वैसे मुश्किल होता गया कि एक ही दृष्टि से, या एक ही आंख से, सब जटिलताओं को देख लें। मैं आपको देख रहा हूं। मैं अगर आपके फेफड़े देखना चाहता हूं तो मुझे एक्स-रे की आंख लगानी पड़ेगी। या तो मैं जानता ही नहीं कि आपके पास फेफड़े हैं। लेकिन जब मैंने जान लिया उस अपरिचित को, और उसे देखना चाहता हूं, उससे भागना नहीं, तो फिर मुझे कई दृष्टियां एक साथ चाहिएं। जैसे-जैसे हम जटिलताओं के प्रति सजग होते जाते हैं, वैसे-वैसे हमें लगता है अब बहुत-सी आंखें चाहिए। हर आंख के लिए अलग-अलग भाषा चाहिए। अतः हमें बहुत-सी भाषाएं चाहिएं।

जटिलता के बहुत से पहलू हो गये। एक बहुत मोटा बंटवारा है सूक्ष्मजगत और स्थूल जगत का। सूक्ष्म जगत पहले नहीं देखा था जहां परमाणु, अणु आदि की अजीबोगरीब क्रियायें, प्रतिक्रियायें हो रही हैं। स्थूल जगत रोज़मर्रे का परिचित संसार है। हमारी भाषा स्थूल जगत के वर्णन के लिए बनी है, उसी में पली है। उसी के लिए ईजाद की गयी। निश्चय ही जब हमने सूक्ष्म जगत के अपरिचित संसार को देखा तो पहले-पहल इसी भाषा को लेकर उसे बताने गए, क्योंकि यही हमको आती थी। हमने पाया कि सूक्ष्म जगत में जो व्यापार हो रहे हैं उनका जब हम इस भाषा में वर्णन करना चाहते हैं तब या तो कह नहीं पाते, या कुछ गलत कह जाते हैं। अपने को झुठला देते हैं। ऐसा नहीं लगता कि जो हम देख रहे हैं वही कह रहे हैं। एक बहुत बड़ा अन्तर दिखलाई देने लगता है। क्योंकि शब्द उसके लिए बने ही नहीं थे। तब एक दूसरी भाषा हमें अपनानी पड़ी जोकि गणित की भाषा है। जब अनुभव का संसार बदलता है तब भाषा भी बदलनी पड़ती है।

सब लोग गणित सीख नहीं सकते, या सीखना नहीं चाहते। इसलिए गणित की भाषा वैज्ञानिक को सौंप दी गयी। वह इसकी सहायता से सूक्ष्मजगत की परख में भाग लेने लगा। जैसे भाषा का बंटवारा हो गया। पर इसके इतिहास से हमने कुछ सीखा नहीं।

जब हम रोज़मर्रे के स्थूलजगत की भाषा से लेकर सूक्ष्मजगत को परखने गए, तो सिर्फ इतना ही नहीं हुआ कि पूरा नहीं कह पाए, या गलत कह गए, बल्कि इससे अनेक पैराडॉक्स (विरोधाभास) पैदा हुए। इसके विस्तार में नहीं जाऊंगा। वह इतिहास की बात है।

बहुत से विरोधाभास इसलिए बने कि हमने एक संसार की भाषा दूसरे संसार में लगाई। हमने एक नया पाठ सीखा। ऐसा भी हो सकता है कि रोज के जीवन में भी एक तरह के व्यापार की भाषा हम दूसरी जगह लगाएं। बैंक से, या प्रशासन से, संबंधित भाषा लें और उसे प्रेम कथा में लगाएं तो शायद बहुत से विरोधाभास उत्पन्न हों। जब विरोधाभास तक हम पहुंचते हैं तब सृजन के लिए चुनौती उपस्थित होती है। इसलिए विरोधाभास तक पहुंचना नयी चीज है, अपरिचित है। इसी से हम पहचानते हैं कि कहीं हम अपरिचित के पास पहुंच रहे हैं। जब विरोधाभास पैदा होने लगें, मिलें, तो खुश होना चाहिए, बजाय इसके कि परेशान या दुखी हों।

जब हम कई भाषाओं से, विभिन्न क्षेत्रों में, प्रवेश करते हैं, तब कई आंखों से और कोणों से एक साथ देखते हैं। एक चेहरे की जगह, दो चेहरे, तीन चेहरे, एक साथ दीखने लगते हैं। इसलिए हमारी वर्णनात्मक शब्दावली असफल होने लगती है। तब लाक्षणिकता आती है, व्यंग्य आता है। इनके साथ नागरिकता आती है। ये सब पहले भी साहित्य में रहे होंगे पर यदि आज ये केन्द्र में आये हैं तो उन्हें फेंक देने या नकार देने की जरूरत नहीं है। अपने तर्क के साथ ये आये हैं। इनको समझदारी और सहानुभूति से देखने की जरूरत है। क्यों हम बार-बार वहां पहुंच रहे हैं? क्यों इस ढंग को अपना रहे हैं? बिना कारण को समझे कहना कि ऐसा न लिखा जाए, रचना के बारे में कुछ नहीं बताएगा, आलोचक के बारे में अवश्य कुछ बताएगा। बात बनी कि नहीं यह तो बाद की बात है।

अब तक मैं भाषा शब्द का बहुत सरल ढंग से प्रयोग करता आ रहा हूं। आपने अब तक जो कहा है उसी को अपनी तरह से रखना चाहूंगा। उसमें कोई नयी बात नहीं है। कहा जाता है कि भाषा बातचीत के लिए, रोज के संवाद के लिए जरूरी है। शब्दों के अर्थ आपस में तय हो गए, तब सम्वाद बना। एक मॉडल बनाता हूं। मान लीजिए दो व्यक्ति हैं, कल्पना में, जिन्हें श्राप दे दिया गया है। श्राप के रूप में एक गेंद दे दी गयी है कि तुम आपस में हमेशा इसका आदान-प्रदान करते रहो। वह गेंद श्रापवश ऐसी है कि हमें दिखलाई भी नहीं देती। हमें इतना ही दीखेगा कि वे दोनों हमेशा साथ रहते हैं, बस। बड़ा अजीब-सा लगेगा। वे भी क्या करें? गेंद का सदा आदान-प्रदान करते रहना है तो अलग हो नहीं सकते। लगेगा कि उनके बीच में कोई बन्धन है, एक-दूसरे की ओर खिचाव है, संबंध है। आदान-प्रदान स्वयं में एक संबंध बनाता है। एक बल को जन्म देता है जो बांधता है। अब इस गेंद की जगह शब्दों को रख दें। अगर श्राप दे दिया है कि बराबर बातचीत करते रहो, तो वे कितनी दूर जाएंगे? बहुत ज़ोर से चिल्लाकर बोलेंगे तो भी एक दूरी तक जाकर रुक जाएंगे। चिल्लाकर हल्के-फुल्के शब्द ही कहे जा सकते हैं। हल्की गेंद ज़्यादा दूर तक फेंकी जा सकती है। प्रेमी और प्रेमिका हमेशा फुसफुसा कर बोलते हैं। चिल्लाकर प्रेम नहीं करते। ठीक ही है। अब हम बातचीत···शब्द को बढ़ा लेते हैं। हरकत भी उसमें है। मैं बोल रहा हूं। दूसरा आदमी सिर्फ आंख से देखता है, हामी भरता है, सिर हिलाता है, हाथ फैलाकर कंधे उचकाता है। यह भी भाषा का आदान-प्रदान है।

इस आदान-प्रदान को थोड़ा-सा और परिभाषित करें। दो शब्द लाना चाह रहा हूं—सोर्स (स्रोत) और सिंक (पात्र)। आदान-प्रदान का रिश्ता सोर्स और सिंक का भी है। यह दूसरे प्रकार का संबंध है। अमीर और ग़रीब का, मालिक और नौकर का, राजा और रियाया का। दूसरा बोल रहा है और मैं सिर्फ सुन रहा हूं। वह मेरे अन्दर गिर रहा है, सिंक को स्वीकार कर रहा हूं, लेकिन मेरे अन्दर वह शक्ति नहीं है कि मैं सोर्स बनकर उसको कुछ सुनाऊं। तो सोर्स और सोर्स का एक मज़बूत रिश्ता है जो आदान-प्रदान पर आधारित है। सोर्स और सिंक का रिश्ता इसका आधा या अधूरा रिश्ता है। कमज़ोर करता है बल को, सम्बन्ध को। प्रदान ही प्रदान जिसमें है। या दूसरी ओर आदान ही आदान है। यह सम्बन्ध उतना मज़बूत नहीं जितना सोर्स और सोर्स के बीच था जब दोनों ओर आदान-प्रदान की स्थिति थी।

फिल्म और टेलिविजन की बहुत बातें यहां पिछले दिनों हुई हैं। इन संचार माध्यमों से हमारा रिश्ता सोर्स और सिंक का हो जाता है, जो अधूरा रिश्ता है। सरकार के साथ

भी सोर्स और सिंक का रिश्ता हो जा सकता है। सरकार इन माध्यमों से, समाचार पत्रों से, हमसे बात कह लेती है, लेकिन लौटकर हम सरकार से बात नहीं कह पाते। ख़तरा यहां है। अधूरा रिश्ता ख़तरनाक होता है। किसी को मर्यादित नहीं करता। जितना रिश्ता कमज़ोर पड़ने लगता है उतना ही हम अपने मानवीय होने की भावना से वंचित होते जाते हैं। अमानवीयकरण को अब इस रूप में रख सकता हूं कि हम महज़ सिंक बनते जाते हैं। कमरे में टेलिविजन चलता हो तो आपस में भी बातचीत बन्द हो जाती है। लगता है हम सोर्स नहीं रह गये, हम सिंक रह गए'''तो कहीं विघटन हो गया हमारे व्यक्तित्व में। ख़तरा यह है कि कहीं हम अपना सारा जीवन सिंक बने रहने में न बिताने लग जाएं। सोर्स की भूमिका न निभा पाएं।

रिश्ते में कमज़ोरी असुरक्षाभाव को जन्म देती है। सोर्स-सोर्स के बीच असुरक्षा का भाव नहीं होता, क्योंकि बराबर टक्कर की संभावना है। जब एक सोर्स हो गया और दूसरा सिंक, तब स्तर का अंतर आ गया, असुरक्षा का भाव आ गया। हम अलग-अलग तरह के जानवर हो गए'' सिंक को सोर्स से डर लगने लग गया। ख़तरे की स्थिति आ गयी।

इस असुरक्षा के भाव के आने से दो बातें पैदा हुईं। एक तो हमें यह बोध होने लगा कि हम शिकार (विकटिम) हैं। तब हमारे पास एक ही विकल्प रह जाता है। किसी तरह से बचे रहने का। लौटकर कहने, जूझने या लड़कर-मरकर गौरव प्राप्त करने की स्थिति भी नहीं रह जातीं। एक 'विकटिमपना' चारों ओर छाकर यथार्थ के रेशे-रेशे में रम जाता है। इस दृष्टि से देखें तो गोदान के होरी में मुझे इसके प्रथम लक्षण दिखलाई देते हैं। जैसे वह एक शिकार है, एक तन्त्र से घिर गया है। सिर्फ सिंक होकर रह जाता है। पूरा तन्त्र, या वातावरण, उसके ऊपर क्रियाकलाप कर रहा है। वह कुछ नहीं कर पाता। बाकी सब उस पर क्रिया करते हैं। फिर भी वह गौरवान्वित केन्द्रीय चरित्र का दर्जा जैसे नहीं पाता। वह इसलिए बचा रहता है अपनी औकात में कि अन्य लोग महत्त्वपूर्ण भूमिकाएं निभा पाएं।

जब तन्त्र या वातावरण महत्त्व ग्रहण कर लेता है तो वह भाषा, जो केन्द्रीय चरित्र के लिए तराशी गयी थी, बेकार हो जाती है। नायक से हटकर हम अधिक बड़े परिवेश में शब्दावली का जाल फेंकने लगते हैं। तब हमें ऐसे बहुत से शब्द उपयोग करने पड़ते हैं जो साहित्य के केन्द्र में नहीं हैं। जैसे जाने-माने साहित्य के दायरे के बाहर हो जाते हैं। पर यदि हमने परिवेश को चरित्र या नायक रूप में, जो एक अपरिचित है, देख लिया है, तो निपटने का प्रयत्न करना ही पड़ेगा। हम तो फंस गए इस नयी स्थिति में। प्रेरित परिवेश अब पृष्ठभूमि मात्र नहीं रहा। यदि इन बातों को सिद्धान्त कहें, तो लगाकर देखना चाहिए कितनी ताक़त है इसमें।

कल शाम (छत्रपाल द्वारा) एक कहानी पढ़ी गयी—**मजमेबाज**। उसमें इस सिद्धान्त को लगाकर आजमाएं। इस दृष्टि से उसका आकलन करें। सबने ही कल कहा कि कहानी बहुत अच्छी लगी। उसके बाद मैं जब चाय की दुकान पर रात में गया जहां आठ-दस लोग चाय पी रहे थे, इस कहानी पर बात चल पड़ी। कुछ लोगों ने कहा कि अंत अगर दूसरी तरह किया होता तो कहानी सफल हो जाती। जो अंत सुझाया गया वह भी बड़ा मजेदार था। कहा गया कि यदि मजमेबाज बाद में छुरा फेंककर फल काटने में सफल हो जाता तो शायद ज्यादा अच्छा होता। किसी ने कहा कि कहानी और भी अच्छी हो जाती अगर सफल होने के बाद भी मजमेबाज इतना घबड़ा जाता कि ताली पिटती फिर भी उसे लगता कि शोर हो रहा है। एक करुणा का भाव उसमें जागृत होता। लेकिन गौर से देखिए तो ऐसे अन्त की मांग परिचित में लौट आने की मांग

है, जितना थोड़ा अपरिचित कहानी में था उससे हटकर। क्योंकि हम अभी भी केन्द्र में उस मजमेबाज को रखना चाह रहे हैं, उसी की व्यक्तिगत करुणा से हम जुड़ना चाह रहे हैं। और कोई चीज बीच में न आने पाये। वह जूझते-जूझते चाहे मर जाए, समाप्त हो जाए, लेकिन केन्द्रीय चरित्र बना रहे। सफल होकर अपने को असफल मानता हुआ प्राण दे दे तो कितनी अच्छी करुणाभरी कहानी बन जाए। उसकी सफलता, उसकी समझ, उसके प्राण। पर कहानीकार ने ऐसा नहीं किया।

उसने अन्त में भीड़ को ज्यादा महत्त्व दे दिया। फिर भीड़ मजमेबाज के ऊपर क्रियाकलाप करने लगी। इस अर्थ में वह अधिक आधुनिक हिस्सा हो गया कहानी का। अधिक सम्भावनापूर्ण और शक्तिशाली क्योंकि यहां एक अपरिचित को वह ले आया। इतना ही नहीं, अन्त उसने अस्पष्ट भी रखा। इससे अनिश्चितता का आयाम जुड़ा। यह हिस्सा मुझे बहुत समर्थ लगा, जबकि आप सबको कमज़ोर। शुरू का हिस्सा मेरी दृष्टि से बहुत कमजोर है, परिचित है, जो आपको अच्छा लगा था। शायद इसलिए कि मैं एक फर्क तरीके से कहानी को देख रहा हूं। बुरा मानने की बात नहीं है। मैं बहुत एकांगी दृष्टि से देख रहा हूं। अभी बनाए गए सिद्धान्त को लगा रहा हूं। इसलिए उल्टा-पुल्टा नतीजा निकल रहा है। शुरू में कहानी कमजोर है क्योंकि वह परिचित ढंग से मजमेबाज पर केन्द्रित है। वह नायक है। जो भी होने जा रहा है वह इसलिए कि उसकी बांह में चोट है। वह चोट उसके अन्दर केन्द्रित है। यह भी मुमकिन था कि चोट उसको नहीं वरन् भीड़ की सहानुभूति को लग चुकी है। यह भीड़ वह भीड़ नहीं रह गयी है जो उसके बचपन में थी। कुछ आभास बीच में ऐसा आया है। मजमेबाज की पत्नी उसे छोड़कर सरकसवाले के पास चली गयी है। जहां सफलता है। भीड़ भी तो उसे छोड़ कर सरकसवाली हो चुकी है। उसके पास अब दया और धैर्य नहीं है। अगर पहले टिकट नहीं लिया है तो बाद में पैसे नहीं देगी। वह एक पेशेवर को चाहती है। सफलता की गारंटी चाहती है। मजमेबाज जिस भीड़ को बचपन में, युवाकाल में, जानता था, उसके बल पर प्रतिक्रिया का पूर्वानुमान भी लगाता है। तर्क लगाकर उसका सहारा भी लेता है। पर हमेशा चोट उसके अन्दर है। उसके अपने हाथ में। असफलता उसकी अपनी है, उसके हाथ की। भीड़ चोट खाई हुई है। असफलता भीड़ के बदलाव की वजह से है, यह बात नहीं उभरी। बाद में जहां कुछ आई, भाषा बदली है। शुरू के, वैयक्तिक त्रासदी व्यक्त करने वाले, निश्चित जाने-माने अर्थ देने वाले शब्द छोड़ने पड़े। परिवेश का वर्णन करना आसान नहीं है। हम व्यक्तिगत त्रासदी वाले साहित्य के आदी हो गए हैं।

केन्द्रीय चरित्र का वर्णन करना हमें आ गया है। हम उस पर ध्यान लगा लेते हैं। एक व्यक्ति है। बहुत संभावनाओं वाला होते हुए भी उसकी सीमाएं हैं। पर जो समाज या भीड़, बहुत हाथों, पैरों, दिमागों से संचालित है, बहु चेहरे वाला चरित्र है, उसका वर्णन करना उस तरह से मुमकिन नहीं है। अलग ढंग ढूंढना है। ढूंढें तब जब इसे पहचानें। यह भीड़ अननुमेय ढंग से बदल भी सकती है। एक व्यक्ति में भी अनिश्चितता होती है। पर अब एक दूसरी तरह का बदलाव, एक दूसरी तरह की अनिश्चितता से ग्रस्त स्थिति का वर्णन करना है। वह पलपल अपरिचित है। एक व्यक्ति के साथ तो हम बहुत देर रह सकते हैं, उसे कुछ समझ सकते हैं। लेकिन भीड़ के तो लोग भी बदलते रहते हैं। एक परिवेश कभी वही परिवेश नहीं होता जो पहले था। यहां स्थिति अधिक उलझी हुई है। अधिक अनिश्चित है। अधिक अपरिचित है। ऐसे में भाषा भिन्न भूमिका निभाने के लिए मजबूर होती है। कल शायद चतुर्वेदी जी ने कहा था

कि भाषा अवकलन भी करती है, बजाय समाकलन के। यदि स्थिति अनिश्चितता और जटिलता भरी है, जैसे पूरे परिवेश की, तब ऐसे शब्दों का प्रयोग, जो विशाल हैं और तमाम साहित्यिक अनुगूंजों से भरे हैं, सहायक नहीं होगा। जैसे एक उलझे ऊन के गोले को दूसरे ऊन के गोले से नहीं सुलझाया जा सकता है। पतली सलाई का उपयोग करना पड़ता है, जो स्वयं में इकहरी है। उसमें उलझे रेशों को अलग करने की, विच्छेदन की क्षमता है। यही हम करना चाहते हैं। अपनी विभेदन-क्षमता बढ़ाना चाहते हैं। तब हो सकता है ऐसे सरल शब्दों का प्रयोग करें जिसे कल सपाटबयानी का नाम दिया गया। लेकिन यह सपाटबयानी है नहीं, कुशलबयानी है। ऐसे सोचिए कि एक नृत्यकार है जो बहुत से घुंघरू बांधे हुए है। कभी वह एक ही घुंघरू बजा देता है तो आप कहेंगे एक ही घुंघरू बजा। पर बहुत से घुंघरू उसने बजने नहीं दिए। यह क्षमता भी उसमें है। इसी तरह वह सपाटबयानी नहीं है। देखने में सरल शब्द हैं। जैसे त्यागपत्र में। अगर एक ही घुंघरू था, और उसी को बजाया, जैसे समाचार पत्र में, तब कोई बात नहीं हुई, कोई बानगी नहीं हुई। लेकिन उसके साथ अगर यह भी निकला कि हम एक ही को बजा रहे हैं, क्योंकि अन्तर करना चाह रहे हैं, तब कुछ और भी कहा कम कह कर। वरना बस भीड़ ही भीड़ दीखेगी, अनुभवों की भी और शब्दों की भी। या इतना ही कह दिया कि बहुत भीड़ है, तो बात खत्म हो गयी। कई चेहरों को जब एक साथ देख रहे हैं तो विभेदन करना पड़ेगा, व्यंग्य से, लाक्षणिकता से, सपाटबयानी से, पर वर्णन मात्र से नहीं। विरोधाभास वर्णन से परे है। भाषा का प्रयोग अन्वेषणात्मक होगा। अवकलन तभी मुमकिन है। पैनापन आना है।

एक उदाहरण लें, चित्रकारी से। जब कैमरा आया तब चित्र का प्रयोजन बदला, बदलना पड़ा। राजा, रानी, नदी और सूर्योदय के यथार्थ शैली में चित्र बनाना अर्थहीन हो गया। निष्फल लगने लगा। या तो चित्र बनाना बन्द कर दिया जाता या जो भूमिका वे अब तक अदा करते थे उसकी एवजी में आए कैमरे को बन्द कर दिया जाए। कैमरा आ ही गया। तब कलाकार ने रेखाओं, आकारों, रंगों की नई भूमिका ढूंढने की चुनौती को स्वीकार किया। तब अमूर्तन आया। वह जैसा भी हो, आया। कैमरे की तरह से, समाचार पत्र, चलचित्र, दूरदर्शन आदि तमाम संचार-साधन आ गए। हर स्तर पर ढलती जिन्दगी का वर्णन करने का और कहानियां कहने का कार्य अपने ऊपर ले लिया। तब यथार्थ शैली में उपन्यास रचना निरर्थक हो गया, या नहीं हुआ तो क्यों नहीं हुआ? यह प्रश्न पूछना चाहिए।

या तो हम कहें कि संचार-साधन आए ही नहीं। लेकिन अगर आ गये हैं तो इस बात का सामना करना चाहिए। जैसे चित्रकार ने रंग, रेखा, आकार के लिए दूसरी भूमिका ढूंढी, वैसे ही अब भाषा से केवल वर्णन करना या कहानी कहना छोड़कर कुछ और करना होगा। यह चुनौती है। कम से कम वर्णन का जितना हिस्सा अपने ऊपर चल-कैमरे ने ले लिया है उसमें तो भाषा का अपव्यय न करें। एक नयी भूमिका ढूंढते रहने की ज़रूरत है। कुछ लोग निराश हो सकते हैं कि कहां से यह बवाल आ गया। अभी तक अच्छा खासा वर्णन कर अपना काम चला रहे थे, अच्छे-अच्छे कहानीदार उपन्यास लिख रहे थे, और अब यह सब समाप्त हो रहा है। कुछ लोग इसे, चित्रकार की तरह, चुनौती के रूप में भी ले सकते हैं। तब दूसरी तरह की तैयारी करने की जरूरत होगी। भाषा का कोई दूसरा ही उपयोग करना होगा। शब्द वास्तव में आंख बन जाएगा। भाषा को अपने आप बोलने देना होगा। भाषा को अपने दांव में पकड़ना

होगा। भाषा के साथ खिलवाड़ भी करना होगा। वह ज़रूरी हो जाएगा। जैसे रंग के साथ हुआ था। जैसे रंग स्वयं दीखने लगा, वैसे भाषा को स्वयं दीखना होगा। हूबहू शक्ल उतारने के लिए नहीं, जैसा हो रहा है वैसा कहने भर के लिए नहीं।

अगर शब्द से, भाषा से, कुछ बनाने की कोशिश कर रहे हैं, तब सफलता का माप दूसरा हो जाएगा। यदि **गोदान** को आदर्श रखकर चलेंगे तो नया उपन्यास बिल्कुल बेकार लगेगा। अब तो इरादा ही बिल्कुल फ़र्क है। **त्यागपत्र** भी वह नहीं करता जो आज हमें करना है।

किसी माध्यम के लिए नयी भूमिका ढूंढना आसान नहीं होता। पूरी तरह से कभी ऐसा शायद हो भी नहीं पाता। पर हो रहा है कि नहीं, उसमें हमारी असलियत है या नहीं, इसके लिए मुझे एक एतबार दिलाने वाले निकष की कमी बहुत महसूस हो रही है। पता नहीं आप लोगों को ऐसा लगता है कि नहीं। मुझे लगता है। जो करना है उसके लिए कोई पूर्व उदाहरण नहीं है, कैसा भी, तो और भी। यह निकष मिले कहां से? हर समाज में, या हर जीवन्त देश में कुछ मूल्य निर्धारित हो जाते हैं। कभी दर्शन द्वारा। हमारे यहां तो दर्शन की बहुत शक्तिशाली परम्परा रही है। लेकिन जैसे इस समय दर्शन चुप हो गया है। धर्म के नाम पर कुछ भगवान पैदा हो गये हैं। वे कौन-सा मूल्य दे पाये हैं? शायद यह काम लेखक को करना पड़े। आलोचक को करना पड़े। उसके बिना मैं संकट में हूं। निकष के बिना मैं यह नहीं जान पा सकता कि किसके इर्द-गिर्द मंडरा रहा हूं, किस नक्शे को पूरा कर रहा हूं, किस वृत्त को बढ़ा रहा हूं, किस धनुष को तोड़ रहा हूं। कोई शक करे तो कह सकूं, देखो भाई, कम से कम इस परीक्षा में यह सफल हुआ है इसलिए स्वीकार कर लीजिए। कल जब पूरे देश के लिए लिखने की बात उठी तब अज्ञेय जी ने बहुत अच्छे ढंग से कहा था कि पूरी भारतीयता में क्या हम जी रहे हैं, वह भी तो मालूम करने का तरीका नहीं है हमारे पास। ऐसे में हमारी दृष्टि संकुचित हो जाती है। वह आत्मविश्वास नहीं रह पाता कि हम पूरे देश, पूरे एशिया, या पूरी दुनिया के लिए बोल सकें। बुद्ध और शंकराचार्य जब बोलते हैं तो इतना अधिक अपने लिए कि वह संसार भर के लिए भी सच हो जाता है। इसीलिए ठेठ अपने लिए न बोलें तो हम संसार के लिए भी नहीं बोल सकते, यह समझना जरूरी है। पर अपना है क्या, इसकी पहचान इसका निकष हो तब न।

हमारे पास कोई स्थान नहीं है जहां पर खड़े होकर हम बोल सकें। कुछ लोगों ने आसान तरीका ढूंढ निकाला है। जो खुल्लम-खुल्ला भारतीय है उसे लो। यह जल्दीबाज़ी हमारा काम मुश्किल बनाती है। यद्यपि इसका कारण है। निकष का अभाव भी एक तरह की अनिश्चितता, एक तरह की असुरक्षा हमारे अन्दर भर देता है। ऐसे में, घबड़ा कर, जल्दी में, हम किसी भी मुमकिन निश्चित दायरे में पहुंच जाते हैं। कभी-कभी बिना सोचे-समझे, क्योंकि उसके फ़ायदे तुरन्त और स्पष्ट रूप में मिलते हैं। उदाहरण के लिए, एक ऐसा निश्चित दायरा मार्क्सवाद में मिला। लगा कम से कम कोई निकष तो मिला। बाद में मतलब जोड़ लेंगे। अभी तो इसके बिना असुरक्षित हैं। निकष नहीं तो कवच ही सही। एक लालच पैदा हो गया। वहां जाकर बैठ जाएं तो बच जाएंगे, दिख जाएंगे, बिना ज़्यादा कुछ करे-धरे। इसी तरह आदर्श भारतीयता का एक सुरक्षित दायरा मिला लोक साहित्य का। दिल्ली में तमाम अमूर्त चित्र तंत्र पर आधारित हो गए। भोपाल से लेकर दिल्ली तक हर नाटक में ढोलक बजने लगी। एक सतही भारतीयता की खोज में हमने अपने को इन दायरों में सिकोड़ लिया। तंत्र और ढोलक तो खुल्लम-खुल्ला भारतीय हैं। एक बहुत सतही घबराए हुए आदमी की जल्दी में की हुई खोज

के रूप में ये चीजें आने लगती हैं। यहीं सृजनकार की मौत है। वह सरल निश्चित चीजों के ऊपर अपने को आधारित कर लेता है। एक अपरिचित परिचित को ढूंढ़ने के काम में ढल जाता है। उसके दायरे में जितना अपरिचित समाएगा, फिट होगा, उतना ही वह स्वीकार करेगा। बाकी को नकारने लगेगा। क्योंकि फार्मूले में फिट नहीं हो रहा है। अगर किसी नाटक में ढोलक नहीं बज सकती तो वह उसे नहीं करेगा, या करेगा तो जबर्दस्ती होगी। न ढोलक को समझा, न नाटक को, मनोरंजन अवश्य हो जाएगा इसमें। वही हो रहा है। दायरे में खड़े-खड़े गर्व और ऐंठ पैदा हो जाती है। वहीं खतरा पैदा हो जाता है। तन्त्र के आने में, ढोलक बजने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन इनसे जब यह तय होने लगता है कि कितना लिया जाएगा और कितना नहीं, तब ख़तरा है। पता लिखा लिफाफा रख लेने और बिना पढ़े चिट्ठी फेंक देने का माहौल बन जाता है। निकष के अभाव से पैदा हुई जल्दबाजी के यह कुछ नतीजे हैं।

सबने यह भी कहा कि सृजनात्मकता का ह्रास हो रहा है। कहीं कोई अच्छी रचना दिखलाई नहीं देती। इलाहाबाद, दिल्ली, बनारस, भोपाल, सब जगह ऐसा ही है। ऐसे में पिछली बातों से कुछ सीखें। जब पहले ह्रास हुआ तो क्यों हुआ? जागृति आई तो कैसे आई? नयी चीज़ कब जाकर बन पायी? बहुत से उत्तर ढूंढे जा सकते हैं। संरचना की ही बात करें तो भाषा हमारे साहित्य की माध्यम है। हम समूचे कोष का प्रयोग कभी नहीं करते। एक समय में एक तरह की शब्दावली जरूरत के अनुसार काम में आने लगती है। जैसे छायावाद की भाषा। धीरे-धीरे लेखक उस शब्द समूह के उपयोग में इतने पारंगत हो जाते हैं कि आदत-सी पड़ जाती है। वे अपने अनुभवों को उस भाषा में कुशलतापूर्वक फिट कर लेते हैं। बीस वर्ष में, पच्चीस वर्ष में, यथार्थ रोजमर्रे की भाषा सहित जो उसका हिस्सा है, बदल जाता है, अपनी प्रकृतिवश। धीरे-धीरे दो यथार्थ हो जाते हैं। एक साहित्य का यथार्थ अपनी भाषा के कुशल प्रयोग सहित। दूसरा सांसारिक यथार्थ बोलचाल की अनगढ़ भाषा सहित। आरंभ में दोनों यथार्थ अलग-अलग नहीं दीखते। पर कवि को इसकी आहट लगने लगती है। एक स्थिति ऐसी आती है जब दोनों यथार्थों में खाई दिखलाई देने लगती है। बाद में लौटकर देखें तो स्पष्ट दीखने लगती है। जैसे छायावाद से जब हम नयी कविता में गए तो जिसने शुरू में दूसरी भाषा का प्रयोग किया होगा, उसने उस खाई को देखा होगा। एक अपरिचित। आज न केवल छायावाद की शब्दावली गयी, उसी के साथ वह लोक भी गया जिसका वर्णन वह करती थी। हम कह सकते हैं कि छायावादी यथार्थ पीछे छूट गया, क्योंकि भाषा यथार्थ का ही अंग है।

शुरू में इस छायावाद की भाषा में जब ऐसे सांसारिक अनुभवों को रखने की कोशिश की गयी होगी, जो छायावादी लोक के नहीं थे, तब अजीब लगा होगा। विरोधाभास इस रूप में भी आता है। उसका सामना करते ही समझदार कवि ने नयी शब्दावली खोजी। कोष के अलग हिस्से पर रोशनी पड़ने लगी। कविता का ह्रास बन्द हुआ, नयी जागृति आई। अब प्रश्न है कि क्या फिर नयी कविता के लिए ऐसा कोई संकट आ गया है? नयी कविता की शब्दावली में और संसार में क्या कोई खाई आई है? ऐसा अभी चाहते हुए भी लग नहीं पा रहा है। इसका कारण शायद यह है कि नयी कविता ने एक बहुत सीमित शब्दावली का आग्रह नहीं किया है। छायावाद जैसी तकनीकी भाषा नहीं बनने दी। उसकी लोच हमारी दुश्मन हो गयी। अतः खाई की खोज कविता में करना बेकार-सा होगा। कहीं और उसके मिलने की संभावना अधिक है। पद्य से हटकर गद्य में देखा जाए। उपन्यास में खासतौर से दीख सकती है। क्योंकि वहां भाषा और संसार का आमना-सामना अधिक तात्कालिक होता है। वहां कुछ दीखी भी है। विशेषकर जब

भी केन्द्रीय चरित्र से हटकर परिवेश को चरित्र के रूप में रखने से जूझना पड़ा, कुछ कठिनाई आई। बहुत से शब्द बेकार लगे। इसी प्रकार नाटक में हुआ। कुछ बातें निजी अनुभव से कह सकता हूं। दुहरा सकता हूं।

शुरू में बहुत से लोगों ने पूछा कि आप नाटक क्यों लिख रहे हैं ? मैंने इसके पहले नाटक पढ़े ही नहीं थे। पत्रिकाओं में जहां नाटक आते थे मैं पन्ने उलट देता था। शायद दो तरह के लोग दुनिया में होते हैं। कुछ तो नाटक पढ़ते हैं और बाकी जो उलट देते हैं, जिन लोगों में मैं था। जब लगा कि कविता में यथार्थ दुहरा रहा हूं, भाषा भी, संसार भी, क्योंकि दोनों जुड़े हैं, मिलकर यथार्थ हैं, तब सोचा वार्तालाप में जाऊंगा, या नाटक लिखने की कोशिश करूं। शब्दों को एक नया इम्तहान मिलेगा। नयी जगह उनको सुन पाऊंगा, देख पाऊंगा, क्योंकि शब्द का असर वहां दीखता है, शब्द टकराकर दीखता है। लौटकर शायद वे शब्द न हों जो कविता में उपयोग में लाता रहा हूं। एक आशा थी। इसलिए आप देखें शुरू के नाटक में सिर्फ वार्तालाप ही वार्तालाप हैं। और कुछ नहीं है उसमें। ठीक ही, लोगों ने नाटक कहा ही नहीं इसे बहुत दिनों तक। एक नयी चीज़ मिली। तब नया यथार्थ भी थोड़ा-सा दिखाई देने लगा। एक चौकन्नापन बनाए रखना पड़ा। इधर-उधर होती बातों, हरकतों को एक और सिरे से सोखने लगा। वह कोशिश सफल हुई या असफल, अलग बात है। मैं उदाहरण इसलिए दे रहा हूं कि हम हमेशा अपने को तौलते रहें, आलोचना करते रहें, बरतते रहें तरह तरह से। सोचते रहें कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम एक यथार्थ के आदी पड़ गये हैं। एक भाषा का आदी पड़ना उतना खतरनाक नहीं है जितना एक यथार्थ का। क्योंकि फिर तो हम अपरिचित का कभी सामना करेंगे ही नहीं। अपनी भाषा लेकर नए संसार के पास जायेंगे तभी विरोधाभास दीखेंगे। वरना नहीं।

अच्छा हो कि नये दृष्टिकोणों को हम अपनाएं। उसके लिए जितनी ज्यादा भाषाओं को अपनायेंगे उतना अच्छा होगा। एक आदमी सब भाषाएं नहीं सीख सकता। कविता और नाटक की भाषा अलग है। अलग बनी रहनी चाहिए, दृश्यकाव्य हो तब भी। अलग-अलग भाषा के लोग जितनी बार इकट्ठा होंगे, जैसे यहां, उतना अच्छा है। तब अदला-बदली होगी। जब आदान-प्रदान होगा तब दूसरी तरह के सम्बन्ध बनेंगे और दूसरी तरह का यथार्थ सामने आयेगा। इसकी संभावना बढ़ेगी। तो त्रासदी मैं यहीं मानूंगा। हमें आज खुली भाषा और बन्द संसार में खाई दीख नहीं रही है। विरोधाभाष से बच रहे हैं। संतुष्ट हैं।

इसी वजह से, ह्रास है, त्रासदी है। हमने कोशिशें की हैं। जैसा शीला जी ने कहा, हिंसा के शब्द हम लाये हैं। लेकिन यह नाकाफी लगता है। अभी हम नयी कविता की भाषा ही थोड़े बदलाव के साथ फिट करते चले जा रहे हैं। कब और कहां, शायद उपन्यास में पहले यह नामुमकिन लगने लगेगा, इसकी इंतजारी है।

हमारा आत्मसंतोष इतना बढ़ गया है कि वह हमें शक्तिशाली होने का भ्रम देने लगा है। इधर-उधर मन के माफ़िक बात न करने वालों को डांटने भी लगे हैं। कल मुझे भी डांट पड़ी थी। कहा गया कि बनते गंभीर वातावरण में मैं सुई चुभो रहा हूं। पंडितों के बीच में यह मामूली बातें करने वाला कहां से घुस आया। जब हम बड़े-बड़े सवालों से निपट रहे हैं, बड़े-बड़े महल बना रहे हैं, तब कैसे कोई कह रहा है कि जरा देख लें कि हम ईंट बना पाते हैं, या नहीं। मैंने इतना ही कहा था कि पूरे देश को लेकर उपन्यास लिखने की बात बाद में उठेगी, पहले देखें कि हम जासूसी उपन्यास क्यों नहीं अब तक लिख पाए हैं। किसी भी आधुनिक साहित्य की

समृद्धि इससे नापी जा सकती है कि कितने नामी जासूस उस साहित्य में हैं। पर मेरी परेशानी सुनी नहीं गयी, न मुझे उत्तर दिया गया। उसके लायक समझा ही नहीं गया। हमारी प्रेम कहानियों में जगी भाषा जासूसी उपन्यास के न्याय, तर्क, और व्यवस्था को संभालने में अभी असमर्थ है, हमारा दिमाग अभी उतना नियमनिष्ठ होने के नाकाबिल है, इसे स्वीकार करना अभी हमें पसन्द नहीं है। मुझे लगता है आप सबका, सफल साहित्य का बहुत बड़ा तंत्र मेरे सामने है जो मेरी बात सुनने तक को अपना अपमान मानता है। मैं इस तन्त्र का शिकार हूं। मेरी हिम्मत कैसे पड़ी कुछ कहने की। बस। □

[वत्सल निधि द्वारा मानसर (जम्मू) में आयोजित लेखक-शिविर में दिया गया व्याख्यान]

दो संदर्भ : चार गीत

संदर्भ एक : गीत १
चंदनी सिम्फनी

□ निर्मल विनोद

आज फिर,
नीम की ओट में—
चांद मुस्का रहा है खड़ा;
गीत कोई नया जन्म लेगा,
या—
ग़ज़ल कोई हो जायगी।

गंधवाही वसन्ती हवा के,
ताल पर—
डोलती अप्सरी।
एक सपना हकीकत बना—
चांदनी बन गयी—
सहचरी।
मन का आंगन महकने लगा,
बज उठी—
चन्दनी सिम्फनी
गीत कोई नया जन्म लेगा,
या—
ग़ज़ल कोई हो जायेगी।

संदर्भ एक : गीत २

सोनपंखी धूप

जागरूक सम्वेदन,
आहत होता प्रतिपल।

समय-संधि-पत्र पर—
पराजित-मरी पीढ़ी के—
लंगड़ हस्ताक्षर,
देख-देख—धुंधलाती दृष्टि;
हो हृदय विकल।

जागरूक सम्वेदन,
आहत होता प्रतिपल।

सूर्य की जली चिता !
लपटों में—
क्षितिज घिरा;
संतानें निराश्रिता !
कैसी भीषण परिणति !
रक्त-सने श्वेत कमल।

जागरूक सम्वेदन,
आहत होता प्रतिपल।

बौने हैं देवदार !
कुंठित-से लगते हैं—
ये कथित युगावतार।

कंपित-सी दीप-शिखा;
धुआं-धुआं दिक्-मंडल !
जागरूक सम्वेदन,
आहत होता प्रतिपल।

संदर्भ दो : गीत १

बौने हैं देवदार

मुग्ध मन !
गुनगुनी-मादक-सुखद अनुभूतियों का गीत—

रसमय,

गुनगुना !

सोनपंखी धूप अवगुंठन हटाये है,
मधुर क्षण हैं।
इन्द्रधनुषी पेंग पर सुध-बुध भुलाये;
तैरती-सी, क्षितिज तक जा लौट आये।
इन क्षणों को अमर कर दे !
ओ नये-से हो रहे मन !

कुछ सुना !

गुनगुना !

मुग्ध मन !
गुनगुनी-मादक-सुखद अनुभूतियों का गीत—

रसमय,

गुनगुना !

ओस में भीगी गुलाबी पांखुरी जैसे,
विनत-नयना,
देव-चरनों पर समर्पित आंजुरी ज्यों;
बांसुरी अनुराग की, रस-माधुरी ज्यों;
फिर वसन्ती पवन मेरा पाहुना !

गुनगुना !

मुग्ध मन !
गुनगुनी मादक सुखद अनुभूतियों का गीत—

रसमय,

गुनगुना !

संदर्भ दो : गीत २

ऐसा कितनी बार

षड्यन्त्रों के हुए शिकार,
हम घर में ही बारम्बार।

ममता रूठी-रूठी-सी है,
ख़ून सफ़ेद हुआ—पानी;
फटा हुआ बदरंग कफ़न ज्यों,
हर रिश्ता है बेमानी।

ऐसा कितनी बार हुआ—
विश्वासों ने मानी हार।

षड्यन्त्रों के हुए शिकार,
हम घर में ही बारम्बार।

भीतर-ही-भीतर टूटे हैं,
बनने के हर उपक्रम में;
खुद को लाख सहेजा लेकिन—
बिखर गये हम,
सम्भ्रम में।
ऐसा कितनी बार हुआ—
खंडहर बने सपन-मीनार।
षड्यन्त्रों के हुए शिकार
हम घर में ही बारम्बार।

अपने लिए,
अकल्पित होता
—ठांव-कुठांव—
घटित हर पल।
सदियां बीतीं,
घाव न भरते,
हृदय अभी तक है घायल।
ऐसा कितनी बार हुआ
अक्सर सहा व्यर्थ अतिचार।
षड्यन्त्रों के हुए शिकार,
हम घर में ही बारम्बार। □

संस्कृतानुरागी कश्मीरी सुल्तान जैनुलाब्दीन

□ वेदकुमारी घई

कश्मीर के इतिहास में उज्ज्वल पृष्ठ जोड़ने वाले सुल्तान जैनुलाब्दीन को जहां अनेक लोक-हितकारी कार्यों के लिए स्मरण किया जाता है वहां संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य के उत्थान में उसका सहयोग भी अविस्मरणीय है। सिकन्दर बुतशिकन (१३८९-१४१३ ईस्वी) के समय जब गांव-गांव में, नगर-नगर में देवप्रतिमायें भग्न होने लगीं, ब्राह्मणों का उत्पीड़न और शास्त्रनिन्दा सामान्य बात हो गई तो बहुत से विद्वान ब्राह्मण कश्मीर छोड़कर चले गये।[1] जैनुलाब्दीन ने उन विद्वानों को पुनः आमन्त्रित किया जिससे विद्या की स्रोतस्विनी फिर से इस देश में प्रवाहित होने लगी।[2] जोनराज, श्रीवर, नोत्थसोम, योधभट्ट, अवतार भट्ट, शिर्यभट्ट आदि अनेक विद्वान उसकी सभा को सुशोभित करते थे। जोनराज संस्कृत का प्रकाण्ड विद्वान था। उसने कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसरण पर द्वितीय राजतरंगिणी की रचना की है जिसमें तेईस राजाओं का वर्णन मिलता है। उसने तीन संस्कृत ग्रन्थों भारवि के किरातार्जुनीय, मंख के श्रीकण्ठचरित तथा जयानक के पृथ्वीराजविजय पर टीकायें लिखी हैं। प्रथम दो टीकायें प्रकाशित हो चुकी हैं। भारवि के किरातार्जुनीय पर लिखित टीका अभी अप्रकाशित है। जोनराज का शिष्य श्रीवर भी संस्कृत का कवि था। उसने तृतीय राजतरंगिणी रची है तथा फारसी के कवि मुल्ला जामि की रचना यूसफ-जुलेखा के आधार पर संस्कृत काव्य कथाकौतुक लिखा है। कपूर भट्ट प्रसिद्ध राजकीय वैद्य था। रूप्यभट्ट राजकीय ज्योतिषी था जो बिना हिसाब किये ग्रहों की स्थिति जान लेता था। श्री रामानन्द ने भाष्य (श्री भाष्य) की व्याख्या भी कश्मीर में आकर की थी। संस्कृत ग्रन्थों और संस्कृत टीकाओं की रचना से यह प्रतीत होता है कि जैनुलाब्दीन के संरक्षण में कश्मीर में संस्कृत साहित्य का पठन-पाठन सुचारू रूप से चलने लगा था।

---

१. न पुरं पत्तनं नापि न ग्रामो न च तद्वनम्।
यत्र सूहतुरुष्केन सुरागारमशेष्यत ॥ जोनराज ६०३

२. रन्ध्रै रधोगतिं प्राप्ता कुल्येवोद्धृत्य भूभुजा।
विद्या प्रवाहिता तेन गुणिनः गुणरागिणा ॥

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में सुल्तान जैनुलाब्दीन के उदार दृष्टिकोण की चर्चा करते हुए जोनराज ने लिखा है—जिस प्रकार कार्तिक के आदि में शीत और गरमी बराबर होती है, जिस प्रकार भूमध्य रेखा पर सूर्य के आने पर दिन और रात समान हो जाते हैं, उसी प्रकार अपने अर्थात् इस्लाम के दर्शन तथा दूसरों के दर्शन के प्रति उसका समान आदरभाव था। बनिये के तराज़ू के पलड़ों की तरह उसे दर्शनों में साम्यभंग सहन नहीं होता था।[1] सर्वदर्शन समभाव की इस विचारधारा का जनता और अधिकारियों पर समुचित प्रभाव पड़ा। जैसे किसी सिद्ध पुरुष के आश्रम में सिंह मृगों को नहीं सताते वैसे ही तुरुष्कों ने ब्राह्मणों को पीड़ित करना बन्द कर दिया था।[2] सुल्तान द्वारा लाये गये इस सुखद परिवर्तन का वर्णन श्रीवर ने भी अपनी राज-तरंगिणी में विस्तार से किया है। उसने लिखा है कि पूर्व सुल्तानों के समय में पुस्तकों के भण्डार जलाये जा रहे थे अतः बहुत से विद्वान पुस्तकें लेकर दूर के प्रदेशों में चले गये थे। जैसे बर्फ के गिरने के बाद कमल दिखाई नहीं देते वैसे ही कश्मीर देश में सभी मनोरम ग्रन्थों की कहानी ही शेष बची थी, ग्रन्थ तो देखने को उपलब्ध नहीं होते थे। मधुव्रत वसन्त की तरह जैनुलाब्दीन ने विद्या के उजड़े उपवनों में फिर से बहार ला दी। पुराण, तर्क, मीमांसा आदि विभिन्न विषयों के ग्रन्थ दूर-दूर से मंगवाकर उन्हें विद्वानों को भेंट रूप में प्रदान किया ताकि उन शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन पुनः प्रारम्भ हो सके। डल झील के किनारे सुरेश्वरी क्षेत्र में इतने विहार, मठ और आश्रम बन गये कि वह प्रदेश वाराणसी से भी अधिक सुन्दर तीर्थ बन गया। जोनराज ने भी लिखा है कि सुल्तान ने प्रद्युम्नगिरि से लेकर अमरेशपुर तक जैननगरी का निर्माण करवाया था तथा उसमें अनेक मठों और अग्रहारों को बनवाकर ब्राह्मणों को दान रूप में दिया था। स्वामी के अनुकरण पर उसके मन्त्रियों ने भी स्थान-स्थान पर मठ तथा धर्मशालाएं बनवाईं जिनके

---

१. शीतोष्णयोरिवोर्जादौ विषुवेऽह्निशोरिव।
तस्य मानोऽभवत्तुल्यः स्वे परे वाऽपि दर्शने॥
राजा वणिगिवात्यर्थं तुलायाः प्रह्वयोरिव।
साम्यभङ्गं दर्शनयोर्नाक्षमिष्ट कथंचन॥ वही, ७६८-६९

२. शान्ते सिद्धाश्रमे सिंहैर्मृगा इव न पीड़िताः।
तुरुष्कैः प्रष्कलभयैर्ब्राह्मणा पूर्ववत्तदा॥ वही, ७७०
तस्मिन काले बुधा सर्वे मौसुलोपद्रवाज्जवात्।
गृहीत्वा प्रस्तकान् सर्वान् ययुर्दूरंदिगन्तरम्॥
किमन्यद् द्विजवद् देशे सर्वे ग्रन्था मनोरमाः।
कथावशेषतां याता पद्मानीव दिमागमे॥
सुमनोवल्लभेनात्र राज्ञा भूषयता क्षितिम्।
नवीकृता पुनः सर्वे मधुनेव मधुव्रताः॥
पुराणतर्क मीमांसा पुस्तकानपरानपि।
दूरादानाय्य वित्तेन विद्वद्मयः प्रत्यपादयत्॥ श्रीवर, राज. १.५.७६-७९
यत्र तीरे सुरेश्वर्याः क्षेत्रं मुक्तिविमुक्तिदम्।
वाराणस्याधिकं भाति तीर्थराजिविराजितम्॥
विहारैरग्रहारैश्च मठैः सुकृतकर्मठैः।
आश्रमैरश्रमैः राजवासैः स्वर्गोपमां व्यधात॥ वही, ४०-४१

माध्यम से संस्कृत विद्या का प्रचार होता रहा होगा।

जोनराज की राजतरंगिणी की एक पाण्डुलिपि में शिर्यभट्ट द्वारा संचालित एक पाठशाला का विस्तृत वर्णन मिलता है। पूर्वकाल में कश्मीर में अथर्ववेद का लोप हो गया था। एक बार सिकन्दर के मन्त्री सूह भट्ट के अत्याचारों से पीड़ित होकर यजुर्वेद का विद्वान युद्धभट्ट कश्मीर प्रदेश छोड़कर कर्णाट प्रदेश में चला गया। उसके यजुर्वेद के अध्यापन से प्रसन्न होकर कर्णाट देशीय विद्वानों ने उसे अथर्ववेद पढ़ा दिया। अपने प्रदेश में वापिस लौटकर युद्धभट्ट ने अथर्ववेद का उपहार जैनुलाब्दीन को दिया। सुल्तान जैनुलाब्दीन के संरक्षण में शिर्यभट्ट ने कश्मीर में अथर्ववेद के अध्यापन की पुनः व्यवस्था की। जिस पाठशाला में अथर्ववेद का अध्यापन होता था उसके उच्चस्तर की स्पृहा कर्णाट देश के लोग भी करते थे चाहे वहीं से अथर्ववेद सीखकर युद्ध भट्ट कश्मीर में वापिस आया था।

संस्कृतग्रन्थों के श्रवण में जैनुलाब्दीन की अभिरुचि का उल्लेख जोनराज तथा श्रीवर दोनों ने किया है। जोनराज के अनुसार सुल्तान नीलमतपुराण आदि की कथा पण्डितों से सुना करता था। श्रीवर के अनुसार जैनुलाब्दीन उससे वाल्मीकि रामायण तथा योगवासिष्ठ सुनता था।' एक बार क्रमसर की यात्रा में कवि श्रीवर भी सुलतान के साथ था। नौका विहार करते हुए जब श्रीवर ने गीतगोविन्द के संस्कृत गीतों को गाना प्रारम्भ किया तो सुल्तान भक्तिरस से आप्लावित हो गया। इससे स्पष्ट है कि सुल्तान संस्कृत भाषा का ज्ञाता तथा संस्कृत भाषा का विशेष अनुरागी था।

संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था के साथ-साथ जैनुलाब्दीन ने इनका अनुवाद फारसी भाषा में भी करवाया ताकि संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ मुसलमान भी इन ग्रंथों का लाभ उठा सकें। धातुवाद, रसशास्त्र, कल्पसूत्र, दशावतार, राजतरंगिणी आदि के अनुवाद उसने राजकीय खर्चे पर करवाये थे।

फारसी को राजभाषा का पद दे दिये जाने पर भी जैनुलाब्दीन ने संस्कृत की उपेक्षा नहीं की थी। राजकीय आज्ञापत्रों के लिए संस्कृत का प्रयोग भी उसने जारी रखा था। श्रीवर

दत्तस्वकीयवस्त्रान्नः शिर्यभट्टोऽथ धर्मवित्।
तेनैवाथर्ववेदं तं द्विजपुत्रानपाठयत्॥
सा धर्मिष्ठा तु शालाऽस्य शिर्यभट्टस्य धीमतः।
कर्णाटानामपि परमगमत्स्पृहणीयताम्॥ — जोनराज की पाण्डुलिपि १२७३-७४

राजा नीलपुराणादीन् पण्डितेभ्यस्ततोऽशृणोत्।
चिन्तान्तराणि संत्यज्य साहसैकसमुत्सुकः॥ — जोन राज ६०७.

मोक्षोपाय इति ख्यातं वासिष्ठं ब्रह्मदर्शनम्।
मन्मुखादशृणोद्राजा श्रीमद्वाल्मीकि भाषितम्॥
इति संस्कृतदेशादि पारसीवाग्विशारदैः।
भाषाविपर्ययात् तत्तच्छास्त्रं सर्वमचीकरत्॥
धातुवादरसग्रन्थकल्पशास्त्रोदितान् गुणान्।
यवना अपि जानन्ति स्वभाषाक्षरवाचनात्॥
दशावतारपृथ्वीश ग्रन्थराजतरंगिणीः।
संस्कृताः पारसीवाचा वाचनार्हास्त्वकारयत्॥ — श्रीवर १. ५. ८२-८४

लिखता है कि जैनुलाब्दीन ने जैनगिरि क्षेत्र में ताम्रपट्ट पर यह आदेश लिखवाया था—

श्रीमान्जैनोल्लाभदीनो ययाचे ।
सर्वान् भूपान् भाविनो जैनगिर्याम् ॥
कृष्टोत्पाट्य स्वैर्धनैर्भूमयात्र ।
तस्या ग्राह्यः सप्तमांशो भवद्भि ॥
जलावतरणं कृत्वा गिरीनुल्लङ्घ्य मत्कृतः ।
पुण्यकेतुरयं सेतुर्वर्धनीयः शुभेच्छया ॥ श्रीवर १. ७. ३७-३८

भावी राजाओं के लिए इस आदेश से युक्त जैनुलाब्दीन की प्रशस्ति श्री बकाशीश कवि ने की थी जिसे ताम्रपट्ट पर उत्कीर्ण कराया गया था। नगर में आग लग जाने पर भी वह ताम्रपत्रांकितप्रशस्ति सुरक्षित रही थी। यह ताम्रपत्र तो अब उपलब्ध नहीं है परन्तु खोन-मुख गांव में नदी के किनारे एक बड़े पत्थर पर खुदा हुआ १४२८ ई० का एक संस्कृत अभिलेख प्राप्त हुआ है जिस में जैनुलाब्दीन सुल्तान का उल्लेख है।

इस प्रकार निःसंदेह कहा जा सकता है कि सुल्तान जैनुलाब्दीन ने संस्कृत साहित्य की समृद्धि में पर्याप्त योगदान दिया था। संस्कृत में उसकी व्यक्तिगत अभिरुचि के कारण उसके समय में संस्कृत ग्रन्थों का फारसी में तथा फारसी ग्रन्थों का संस्कृत में अनुवाद सम्भव हुआ था।

□

इत्थं ताम्रमये पट्टे श्रीबकाशीशः श्रीवर १. ७. ३९.

याते सहस्रचतुरे शरदां बभूव ।
श्रीमत्सकन्दरसुतो धरणीधरेन्द्र-
स्खतीखरे ह जयनोलबदेन शाहः ॥

B K Kaul Deambi : Coipus of Sarada Inscriptions of Kashmir p. 122.

हास्य-व्यंग्य

आ रक्षण—जा रक्षण

□ रामावतार चेतन

सभ्य समाज में, जहां ताकतवर और कमज़ोर एक साथ रहते हों, वहां कमज़ोर के हितों की रक्षा के लिए आरक्षण की ज़रूरत होती है। आरक्षण का सम्बन्ध हदबन्दी से है और हदबन्दी कभी एकतरफा नहीं होती। मसलन चिड़ियाघर में शेर को यदि पिंजड़े में बन्द किया गया तो इसलिए नहीं कि शेर को सुरक्षित करना है, बल्कि शेर से मनुष्यों को सुरक्षित करना है। बीहड़ जंगल में मनुष्य को सीखचों में बन्द करना पड़ता है, इसलिए नहीं कि मनुष्य शेर को काट खाएगा।

स्वतंत्र भारत के संविधान ने समाज के दलितों और पिछड़े हुओं के लिए आर्थिक आरक्षण का जो सिक्का ढाला है, उसका दूसरा पहलू भी है। इससे निम्नवर्ग वाले अपने सीखचों के भीतर रहेंगे और उच्च वर्ग वालों के अधिकारों में दखल नहीं देंगे। अपनी आबादी का अनुपात बढ़ाये बिना आरक्षीगण आरक्षित सीमा का अतिक्रमण न करें, इसके लिए भले चौकन्ना रहा जा सकता है। लेकिन वह स्थिति इस शताब्दी में आने वाली नहीं है।

सदियों से इस देश में अछूतों को आरक्षण देकर उनकी किस्मत बदलने के प्रयास होते आये हैं। सोलहवीं सदी में बादशाह अकबर ने मीना बाज़ार लगवाने जैसे जो बहुत सारे महान् कार्य किए, उनमें से एक यह भी था कि उन्होंने अछूतों को सामाजिक आरक्षण प्रदान किया। उन्होंने अपने राज्य में भंगी को मेहतर का दर्जा दिया। मेहतर यानी महानतम व्यक्ति, जो समाज की गंदगी साफ कर उसे पवित्र बनाता है। अब भाग्य की विडंबना देखिए कि मेहतर बनकर भंगी बन्धु पवित्र न हो पाये, ऊपर से मेहतर शब्द अपवित्र हो गया।

बीसवीं सदी में महात्मा गांधी ने अछूतोद्धार का बीड़ा उठाया और अछूतों को हरिजन के पद पर ला बिठाया। हरिजन यानी भगवान के आदमी यानी मन कर्म वचन से पवित्र लोग। गांधी जी ने अकबर से कई कदम आगे जाकर शौचालयों की सफाई के लिए खुद अपने हाथ में झाड़ू उठाया। लेकिन भाग्य ने फिर किए-कराए पर झाड़ू फेर दिया और हरिजन शब्द अछूतों को पवित्र बनाने के बजाय खुद अछूत हो गया।

पिछली शताब्दी में अंग्रेजों ने भी इस दिशा में कुछ ठोस कदम उठाए। उन्होंने सवर्णों और अवर्णों का हुक्का तो नहीं, लेकिन पानी एक कर दिया। भारतीय रेलें भारतवासियों और उनकी आदतों के यातायात का सबसे सशक्त माध्यम रही हैं। अंग्रेजों ने रेलवे स्टेशनों पर केवल दो प्रकार के पानी की व्यवस्था की— हिन्दू पानी और मुसलमान पानी। (सिक्ख शायद ड्राइवर से और क्रिश्चियन गार्ड से पानी लेकर पीते रहे होंगे।) ध्यान देने की बात यह है कि अंग्रेज़ों ने सारे हिन्दुओं के लिए सिर्फ एक पानी रक्खा। स्टेशन पर गाड़ी खड़ी होने पर नीली वर्दी धारी 'पानी पांड़े' जब एक हाथ में पानी की बाल्टी और दूसरे हाथ में हत्थेदार लोटा लिये 'हिन्दू पानी' की पुकार लगाता मुसाफिरों को पानी परोसता फिरता था, तब सवर्णों के साथ अवर्ण भी अपना लोटा भिड़ाकर पानी का प्रसाद प्राप्त कर लेते थे। किसी को ऐतराज होने का सवाल नहीं उठता था, क्योंकि माथे के भीतर भले लिखा हो, माथे के ऊपर तो लिखा नहीं रहता कि कौन छूत है और कौन अछूत।

हां, लिखकर अपनी जाति का ढिंढोरा पीटने का रिवाज भी अंग्रेजों के काल से ही शुरू हुआ। नाम के आगे सरनाम के रूप में जाति का झंडा फहराती हुई दुम, ताकि नाम पढ़ते या बोलते ही नामधारी की ज्ञाति (जाति) तत्काल ज्ञात हो जाए और सामने वाला तदनुसार व्यवहार करने के लिए उद्यत हो जाए। छूतों में भी परस्पर अछूत की भावना के उद्भव और विकास का श्रेय भी नामों के साथ जुड़े हुए जातीय दुमछल्लों को ही जाता है।

जाति-अजाति, सजाति-विजाति के कुचक्रव्यूह को तोड़ने के लिए एक बार कुट्टिचातन (अज्ञेय का व्यंग्यनाम) ने अपने एक लेख में सलाह दी थी कि निम्नवर्गियों को अपने नामों के साथ उच्चवर्गियों के जाति सूचक सरनाम जोड़ लेने चाहिए। इस प्रकार नाम से सभी सवर्ण हो जाएंगे। बड़ी नेक सलाह है। जरूर अमल में लाना चाहिए। आखिर सरनामों का तो हमारे देश में कोई कापीराइट है नहीं। फिर संकोच किस बात का! जब पोशाक में अन्तर नहीं रह गया तो फिर नाम में भी क्यों रहे! रंग-रूप देने में तो भगवान ने कोई पक्षपात किया नहीं। ब्राह्मणों में भी कालीशंकर और हरिजनों में भी गोरेलाल पाये ही जाते हैं। लावण्य के लिहाज़ से बेड़िनें और डोमिनें किसी से कम आकर्षक नहीं रहीं, हिन्दी साहित्य का इतिहास इसका साक्षी है।

उच्च जाति की पांति में बैठने के लिए ज़रूरी यह भी है कि निम्न जाति वाले अपने परंपरागत मूल नामों में भी संशोधन कर लें। चैतू को चतुर्भुज, बैसक्खू को विशाखदत्त, अंगनू को अग्निवेश, मैकू को मुकुन्द और भीखू को भीष्म बनने में देरी नहीं करनी चाहिए। ऐसा करते ही उनके चेहरे पर चमक आ जाएगी। इसी प्रकार उनकी लड़कियां रधिया से अनुराधा, बिलसिया से बिलासवती, फूला से पुष्पा और सुखिया से सुषमा हो जाएं तो उनके रूप हल्दी और चन्दन से भी ज्यादा निखर जाएंगे और बहुत सारे खानदानी नवयुवक उनका हाथ मांगने के लिए लाइन लगाकर खड़े हो जाएंगे।

मूल नामों में जहां दीन जैसे हीन प्रत्यय हैं, उन्हें बदलकर दक्षिणवालों की तरह स्वामी कर देना चाहिए। जैसे रामदास—रामस्वामी, महादीन—महास्वामी, मसुरियादीन—मैसूरस्वामी आदि। इस प्रकार शक्ल-सूरत, पोशाक और नाम-भेद समाप्त होते ही छूत-अछूत का भेद स्वतः समाप्त हो जाएगा। सवर्णों को इस दिशा में अवर्णों की मदद और मार्ग-दर्शन करना चाहिए, वरना इसमें संदेह नहीं कि आरणक्ष का भूत भविष्य में भी वर्तमान रहेगा।

□

पांच कविताएं
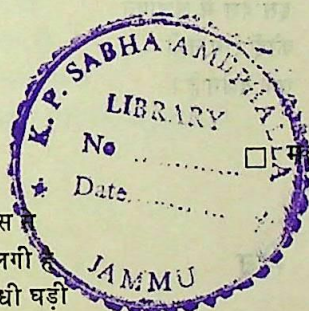
अंधापन

□ महाराज कृष्ण संतोषी

धूप मेरे पास से
देखो हटने लगी है
कलाई पे बंधी घड़ी
जबकि बता रही है
अभी सवा एक का समय है ।

सीने से चिपकी बदरंग कमीज
दिल के आस-पास
गिर रही दीवार-सी
धड़कनें सुन रही है ।

इस समय जहां मैं खड़ा हूं—
वह एक चौराहा है
जहां पर दो अंधे परस्पर
टकरा गये हैं
और एक-दूसरे की लाठियां लेकर
राह अपनी निकल गये हैं ।

इस समय मेरे पांवों में पड़ा
चमड़े का जूता
मरी हुई गाय का ध्यान
क्यों नहीं लाता—

क्यों उस एक जीवित गाय का रूप
बार-बार उभार देता है
जो सारी हरियाली पर मुंह मार रही है ।

अपनी कलाई पे बंधी
विदेशी-पुर्जों से निर्मित
देशी घड़ी पर—
अपनी दोनों आंखें रखता हुआ—
मैं निश्चिंत हो जाता हूं—
और सोचता हूं
इस देश में अंधापन
कोई रोग नहीं
एक दर्शन है ।

सेब

सेब !
कितना सुखद है
तुम्हारे बारे में
यह सोच लेना
कि छोटी-बड़ी दुकान पर
तुम अपना रंग नहीं बदलते—
और न प्रतिष्ठा अनुसार अपना स्वाद !

देखो, कितना भला लगता है
घृणा की लपटों बीच
यह सोच लेना
कि फलते समय तुम नहीं सोचते
किसी सम्प्रदाय-विशेष के बारे में
तथा हर अच्छे-बुरे मौसम से जूझकर—
तुम अपने भीतर
स्वाद भरते रहते हो
यह जानते हुए भी कि—
एक दिन यही अधिक स्वाद
आदमी और चाकू की नियत बिगाड़कर

तुम्हें फांक-फांक कर देगा।

कभी-कभार, लेकिन
तुम भी हो जाते हो कितने उदास
जब कोई भूखा बालक
या पिता उसका
या बहन उसकी,
ललचाई जीभ से
तुम्हें देखते भर हैं
और स्वाद तक पहुंचने से पहले
छिलके पर ही
दम तोड़ देती है
उनकी इच्छा कोमल
तब तुम कितने लज्जित महसूसते हो
सेब।

बारिश में

बारिश में,
मैं चाहता हूं
कमरे में ही
छोड़कर यह ज़िंदगी
स्वयं को रोपूं
बाहर कहीं खुले में
एक पौधे की तरह
और झेलूं,
पत्ती-पत्ती बारिश।

मगर अक्सर—
बारिश में अनचाहे
मेरे सामने खुल जाता है
एक छाता फटा-फटा-सा
जिसके नीचे
सिमटकर
मेरी पूरी ज़िंदगी

कहीं दूर निकलना चाहती है—
और निश्चित होकर,
कुछ समय
आत्मा में चुभी कीलों को
एक-एक कर निकालना चाहती है
कि बहुत-बहुत काटने लगा है
आत्मा का यह फटा जूता। □

रस्सी बुनने वाला

रस्सी बुनते-बुनते
वह
हज़ारों मज़दूरों का भार
ढो रहा होता है
हज़ारों जोड़ी आंखों से
रो रहा होता है
हज़ारों सड़कों पर एक साथ
मर रहा होता है
हज़ारों घरों में
गुस्सा पी रहा होता है
हज़ार-हज़ार रातों से
वह महसूस रहा है
ठहरे हुए मौसम का ठण्डापन
जो उसकी रगों में
उतर रहा है।

एक दिन अचानक
उसकी इच्छा
बिगड़ गई
मेले में किसी बच्चे-सी!
बुनी हुई रस्सी लेकर
वह अपने बचपन के
साथी पेड़ के पास
चला गया
बोला,

'जानते हो
मैं यहां क्यों आया हूं ?'
पेड़ चुप
हवा में आहें फेंकता रहा !

इधर,
रस्सी लटका कर
वह झूलने लगा
तेज़ ! बहुत तेज़ !
पत्नी,
बच्चे
मालिक
समय
सब कुछ भूलता हुआ !

चेतना के लौटने पर
खाट पर लेटा
वह कराह रहा था
और हर कोई
उसे कोस रहा था
बच्चे कह रहे थे
'पापा !
पचास की उम्र में
यह कैसा शौक चर्राया ?'

अपने तीसवें जन्मदिन पर

अपने तीसवें जन्मदिन पर
दिन भर
वह कुछ भी नहीं बोला
न किसी को दावत दी
न कोई केक काटा
न फूंकी मोमबत्तियां
न पत्नी को छेड़ा
न बच्चों में बना घोड़ा

अपने तीसवें जन्म दिन पर
आईने के सामने
वह टटोलता रहा अपना चेहरा
और छत पर एकत्रित बर्फ-सी
झुर्रियां हटाने की
कोशिश करता रहा।
ख्यालों में अपने
दीवारें गिराता रहा
ईंटें ढोता रहा
अपने तीसवें जन्मदिन पर
वह किसी से कुछ भी नहीं बोला ! □

कहानी

नारकण्डे की आखिरी रात

□ देवेन्द्र इस्सर

मृत्यु की छाया में प्रतिदिन सांस लेना कितना भारी हो जाता है। मौत कब कैसे आ जाये। शायद मृत्यु इतनी भयानक नहीं होगी जितना कि मृत्यु का भय। हर क्षण मृत्यु की परछाई रूह के गिर्द मंडराती रहती है। 'मौत का एक दिन मुईन (निश्चित) है नींद क्यों रात भर नहीं आती।' यह मृत्यु का भय ही है। और ग़ालिब ही ने कहा था कि 'ग़मे-हस्ती का असद नहीं जुज़—इलाज' कि जीवन के ग़म का निदान मृत्यु ही है। तो इस ग़म से नजात पाने के लिए क्या आत्महनन कर लिया जाये। लेकिन जब कैदे-हयात और बंदे-ग़म (ज़िन्दगी की कैद और ग़म की उपस्थिति) एक ही हो तो मनुष्य मौत से पूर्व ग़म से नजात कैसे पा सकता है। तो दोस्तो, जब तक जान है, जीवन है और जब ग़म नहीं होगा तो जीवन भी नहीं होगा। जब ज़िन्दगी ग़म के दमकदम से ही कायम है तो फिर क्यों न ग़म से प्यार किया जाए— किसी फूल, तितली, हवा, खुशबू और प्रेयसी की तरह।

मुझे याद आते हैं वे दिन जब मृत्यु चारों दिशाओं से हमारे सिरों पर मंडरा रही थी। देश-विभाजित हो चुका था। हम सवारी गाड़ी में मालगाड़ी की तरह सामान और पशुओं की भांति एक-दूसरे से जुड़े हुए ठसा-ठस भरे पड़े थे। गाड़ी कभी सुस्त, कभी तेज़ रफ़्तार से चल रही थी। एक ७-८ वर्ष की लड़की खिड़की के पास बैठने की ज़िद् कर रही थी। उसके मां-बाप उसे बार-बार खींचकर अपने पास बिठा लेते। जब वह बहुत जिद् करने लगी तो उन्होंने उसे डराया। खिड़की के पास बैठोगी तो बाहर से कोई गोली मार देगा·· झाई इस भीड़ विच वी ते मेरा दम घुट रहिया है। लड़की ने कहा। (सिर छुपा कर दम घुटने से मौत और गोली खाकर मर जाने में क्या अन्तर होता है। कोई तो समझाए यारो)।

ताज़ा हवा और रोशनी।

मालूम नहीं वह लड़की कह रही था या मेरे भीतर से आवाज़ आई या कहीं पढ़ा था। लेकिन वह बच्ची खिड़की के पास बैठी थी और बार-बार कभी मां का मुंह फेर, कभी आंचल खींचकर कह रही थी—हाय किन्ना सोहणा मोर है झाई वेख-वेख—झाई तू तकिया ही नहीं। ओह दरख़तां ओले हो गया। गाड़ी रावी नदी पार कर रही थी। वह फिर चिल्लाई—

झाई तैनूं तैरना औंदा है। मां सहमी-सहमी बैठी थी। गुस्से में बोली—चुप भी रह ना। तैनूं कदे मोर दी पयी है ते कदे तैरन दी। इथे जान सुकड़े पयी होई है। पता नहीं कद की हो जाये। ज्यूंदे भी पहुंचदे हां या नहीं।

—झाई जे अस्सी ज्यूंदे पहुंच गये तां मैनु तैरना सिखा देंगी ना।

—हां-हां सिखा दियां गी।

(जब सामने मौत हो और ज़िंदगी हो ग़म का दरिया तो दोस्तो, समय रहते तैरना सीख लो)—अगर डूब भी गये तो यह दरिया ज़िन्दगी का होगा। मौत का कुआं नहीं। यदि मुझे मरना ही है (और मरना है ही) तो पल-पल इस चिन्ता में क्यों मरता रहूं। जो क्षण मेरे पास हैं उन्हें क्यों न दिलों, रूहों और जिस्मों के रंगों, खुशबुओं, स्पर्शों और आवाज़ों से भर दूं। वे लोग कैसे होते हैं जिनकी मृत्यु से फ़जाओं में रंग बिखरते हैं, हवाओं में खुशबुएं उड़ती हैं और लहरों में आवाज़ें संगीत बन गूंजती हैं।

क्या यह संभव नहीं कि जब मैं मरूं तो धनुक के सात रंगों पर झूलता हुआ मरूं (तेरी मौत सड़क पर होगी। ट्रक के नीचे आकर। कोई लाश भी उठाने वाला नहीं होगा)।

जब भी मृत्यु मेरे शरीर पर दस्तक देती है तो मुझे न यम का भयावह चेहरा याद आता है, न ईश्वर का स्मरण। छलावे से झलक जाते हैं कुछ चेहरे, कुछ दृश्य, कुछ क्षण, कुछ शब्द और कुछ अदायें। तुम जानते हो मेरे शरीर के स्विच कहां-कहां हैं। किस स्विच से किस रंग का बल्ब रोशन होता है। कैसे पूरा शरीर सतरंगी इन्द्रधनुष बनकर सारे आकाश में रंग-ही-रंग बिखेर देता है। लेकिन इसके लिए रोशनी की किरण को जलकण में से गुज़रना पड़ता है। और सहसा याद आ जाता है वह दिन·· जलकण के दर्पण के पीछे सात रंग थे इन्द्र-धनुष के। और शरीर शोला-सा लपक कर बांहों में आ गिरता है· 'रात भर जिस्म जलता रहा कि शोला-सा कोई मेरी बांहों में था।" मैं शेष ज़िन्दगी को जीना चाहता हूं। किसी को प्यार करने में सक्षम होना और किसी के प्यार का पात्र बनना···शायद जीना इसी का नाम है। लेकिन मुझ से कब-कब, किस-किस ने कैसे-कैसे नफ़रत की है—भरपूर, किसी दैवी शक्ति के प्रताप की तरह, पूरी तरह, पूर्ण निष्ठा से, दृढ़ विश्वास से, पूरे इरादे से, कड़ी मेहनत और दूर दृष्टि से— उठते बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते, चलते-फिरते, हर जगह, हर क्षण, हर मौसम में, हर कोण से···

—क्या टार्चर का अपना सुख नहीं?

—है।

—जब उसने तुम्हारी अवहेलना की। एक सोची-समझी सीधी उत्पीड़ना से तुम्हें ताड़ित किया, तुम्हें किसी-न-किसी तरह हर समय चोट पहुंचानी चाही तो तुमने क्या किया? क्या तुम्हारे भीतर प्रतिशोध की भावना पैदा नहीं हुई?

—हुई। लेकिन मैंने दूसरा रवैया अपनाया कि मुझे कोई चोट नहीं पहुंच रही।

—लेकिन यह झूठ है।

—हां, यह झूठ है।

—लेकिन तुम कुछ और भी तो कर सकते थे।

—क्या।

—क्षमा।

—यह सम्भव नहीं। आखिर इसका क्या तर्क है कि तुम उसे और प्रोत्साहित करो कि

वह तुम्हें और टार्चर करे।

इटली की सिने तारिका एड्रीयाना अस्ती ने कला समीक्षक युगो वोल्ली को एक सुन्दर पैकेट भेजा। जब वोल्ली ने उसे खोला तो पाया कि उसमें 'हार्सशिट' थी। उत्तर में वोल्ली ने एड्रीयाना को गुलदस्ता भिजवाया इन शब्दों के साथ—हर व्यक्ति दूसरे को वही देता है जो उसके पास होता है।

—सुनो मित्र जो व्यक्ति घृणा करता है, क्रोध करता है— दबाव/तनाव उसकी नियति है जिससे बचने के लिए वह जीवन भर अहं/अहंकार और ड्रग्स की शरण लेता है। और वे जो किसी व्यक्ति के बारे में एक कल्पना/विचार बना लेते हैं और पूरा जीवन वे उस कल्पना/विचार के अनुरूप उससे व्यवहार करते हैं वे वास्तव में ऐसे माइग्रेण्ट्स हैं जो नफ़रत के रवैयों में ही सुरक्षित रह सकते हैं।

—मैं वह नहीं बनूंगा।

और मैंने नफ़रत की चट्टान को पूरी शक्ति से परे धकेल दिया।

धीरे-धीरे मैंने महसूस किया कि घृणा कितनी विस्फोटक, कितनी विनाशकारी होती है। घृणा से धीरे-धीरे शक्ति का ह्रास होता जाता है। शरीर ही नहीं, चिन्तन भी रुग्ण होता है। व्यक्ति अन्य मनुष्यों को संशय की दृष्टि से देखने लगता है। न मित्रता कर सकता है, न सृजन, न प्यार, न प्रशंसा। वह हर मानवीय अनुभूति के अयोग्य हो जाता है।

विष मैंने भी पिया है और शंकर ने भी, लेकिन विष शंकर के गले के नीचे नहीं उतर सका क्योंकि पार्वती ने उसके गले पर अपनी उंगलियां (अक्षर) रख दी थीं। लेकिन मेरे गले तक किसी के होंठ (उंगलियां) नहीं पहुंच सके, और यह विष गले के नीचे उतर कर पूरे शरीर में फैल गया है। शिराओं में दौड़ने लगा है। जब भी यह विष हरकत में आता है तो पूरा शरीर छटपटाता है। नाग की भांति फुंकारता है और मैं अपनी ही उंगलियों से विष को दौड़ने (उमड़ने) से रोकने की कोशिश करता हूं, लेकिन।

उंगलियां किसी के होंठ नहीं बन सकतीं, मैं यह विष अपने शरीर में लिये, जिह्वा की नोक पर रखे, अपने अन्दर भूत को समेटे कब से भाग रहा हूं।

यह मेरा एकाकीपन था या अहं जो मुझ से वह सब कुछ कराता रहा जो मैं करता आया हूं—और मुझे वह बना दिया जो मैं नहीं बनना चाहता था। किस-किस यत्न से किस-किस तरह मनुष्य इस अहं की दीवार को तोड़ने की कोशिश करता है। तनहाई के अथाह कुएं से बाहर आना चाहता है। मित्र बनाता है। प्यार करता है—विवाह रचाता है। और जितना वह किसी मित्र, प्रेयसी या पत्नी के निकट आता है अहं की दीवार और ऊंची होती जाती है। एकाकीपन का कुआं और गहरा हो जाता है।

मैं घृणा, अहं, तनहाई से मुक्त होना चाहता हूं। जब हम घृणा का उत्तर घृणा से देते हैं तो हम दूसरे के बनाये हुए जाल में फंस जाते हैं। हम उसी के बनाए हुए नियमों के अन्तर्गत घृणा का यह स्पर्धापूर्ण खेल खेलते हैं। हम उसी के उद्देश्य की पूर्ति करते हैं—स्वयं का विघटन।

—तो मैं तुम्हें क्षमा करता हूं मेरी जान···

—और मैं मुक्त हो गया।

—और मैं फकीर हो गया।

और मैंने पाया कि बाहर की दुनिया बदल गयी है। वस्तुएं वही थीं लेकिन वे अपने आकार बदल गयी हैं। मनुष्य वही थे लेकिन उनके चेहरे बदल गये थे। मौसम वही था लेकिन

फूलों का रंग बदल चुका था। रास्ते वही थे लेकिन उनकी मंजिलें बदल चुकी थीं। आकाश वही था लेकिन क्षितिज का छोर बदल चुका था। भूमि वही थी लेकिन माटी की गंध बदल चुकी थी। पांव वही थे लेकिन दिशायें बदल चुकी थीं। मैं वही था लेकिन मैं बदल गया था। ये मेरे नये वस्त्र थे या मेरा दृष्टिकोण। लेकिन मैंने महसूस किया कि मैं अब वह नहीं हूं जो एक पल पहले था। मैंने जागना शुरू कर दिया – फिर से स्वप्न देखना शुरू कर दिया।

उसने सोचा कि मैं जीवित नहीं रहूंगा। मैं कभी मुस्करा नहीं सकूंगा। मैं खिलखिला कर हंसने लगा। मैं कभी घर की चारदीवारी से आगे (बाहर) नहीं देख सकूंगा। मैं उस पार रोशनियों के शहर में पहुंच गया—एक अन्जाना नगर सपनों-साक्षात्कारों का देश—संगीत और साहित्य का संसार, हवाओं और खुशबुओं का अन्तरिक्ष, आकारों और ध्वनियों का नगर, परियों और परिन्दों की दुनिया···

—ऐ देश-देश की दोशीज़ाओ, आज की रात अपने-अपने घरों की लौ को ऊंचा रखना कि कोई दरवेश प्यार की गलियों से गुज़रेगा—

इसका यह अभिप्राय नहीं कि मैं मनुष्य से परामानव हो गया—सब दुर्बलताओं, निराशाओं, विकृतियों से मुक्त हो गया, न अन्धकार रहा न एकाकीपन, लेकिन मैं अब इन सबको स्वीकार करता हूं। न भागता हूं न इनका बन्दी बनता हूं। और मैंने अपने भीतर एक आदम पुरुष, एक शिशु, एक आदिवासी नारी की शक्ति, विस्मय और उल्लास का अनुभव किया कि मैं फकीर हो चुका था।

मैं उस साधु की अवस्था तक तो नहीं पहुंच सका जिसे मैंने वाराणसी में देखा था। 'मणिकर्णिका' घाट पर आकर उसने अपना झोला एक ओर रख दिया। मुंह-हाथ धोया और दिन भर में एकत्रित की हुई भिक्षा की पोटली खोली। दाल और चावल निकाले। अभी-अभी जलाई गई एक चिता से घी का डिब्बा उठाया और बिना साफ़ किये या धोये दाल-चावल उसमें डाल दिये। गंगाजल डाला और चिता पर ही रख दिया। कुछ गंगा जल से और कुछ अग्नि से—सब कुछ पवित्र हो गया था।

सूर्यास्त के समय, चिता की लपटों के सामने, जलते हुए मृत शरीर की छाया में बैठे मैं उसके शान्त चेहरे की ओर देख रहा था। उसके होंठ हिल रहे थे। शायद वह कोई मन्त्र पढ़ रहा था। हर बार जब किसी वस्तु को जो मैं इस्तेमाल करता था या उसका ख्याल था कि उसके इस्तेमाल से मुझे सुख मिलता है उसे हटा लिया जाता है या छिपा लिया जाता है तो मुझे उस साधु का चेहरा याद आ जाता है। जिस प्रकार की ज़िन्दगी हम जीना चाहते हैं उसकी शर्तें हैं बर्बाद होना। यदि हम बर्बाद होने से बचना चाहते हैं तो हमें ज़िन्दगी की उड़ान छोड़नी पड़ेगी। तलाश की उड़ान के लिए बुद्धि की नहीं, जुनून की जरूरत होती है।

मेरा जन्म पंजा साहिब में हुआ था। यद्यपि मैं लिखता कैम्बलपुर हूं जो पंजा साहिब से २५-३० मील दूर है जहां मेरी परवरिश हुई थी, मैं सुना करता था—गुरु नानक पंजा लाया ई विच पहाड़ां दे। मैं जब भी अपने जीवन और अपने इर्द-गिर्द की ज़िन्दगी को देखता हूं तो मुझे याद आती है मानव पर गिरती हुई चट्टान जिसे हम अपने हाथ से रोकने की कोशिश करते हैं। और इससे फूटती है शीतल जल की निर्मल धारा।

हरमेन हेस ने कहा था – मैंने एक बार फिर घर की प्रत्येक वस्तु को प्यार भरी दृष्टि से देखा क्योंकि मैंने उनको छोड़ जाना था। कल मुझे दूसरे सायबानों से दूसरे झोंपड़ों से प्यार करना होगा जैसा कि लोग अपने प्रेम-पत्रों में लिखते हैं। लेकिन मैं अपना दिल पीछे छोड़कर

नहीं जाऊंगा। नहीं। क्योंकि यह मुझे हमेशा चाहिए। मैं उसे पर्वतों के पार ले जाऊंगा। मैं बेवफा हूं। परिवर्तन और मनमौजीपन मुझे पसंद है। मैं अपने प्यार को इस धरती के किसी एक स्थान पर बांधकर नहीं रखना चाहता। मेरा यह विश्वास है कि जिसे हम प्यार करते हैं वह केवल एक प्रतीक है। जब हमारा प्यार केवल एक वस्तु या तत्त्व के साथ अधिक सम्पृक्त हो जाता है तो मैं आशंकित हो उठता हूं···

प्रश्न तनहाई का है। तनहाई दूसरे लोगों से अलग होने में नहीं। यह एक मनःस्थिति है। भीतरी तनहाई एक हकीकत है। और हम वह सब कुछ करते हैं जिससे हम इस तनहाई से बच सकें। मनुष्य अपनी गहनतम संवेदना और उच्चतम कल्पना में सदैव एकाकी होता है। शायद ईश्वर इसीलिए अकेला है। लेकिन इस तनहाई में ईश्वर भी नहीं। मनुष्य स्वयं भी नहीं। अपने होने की चेतना भी नहीं सिवाय किसी नाग के फुंकारने की आवाज़ और बार-बार डसे जाने का विषस्त्रादन। हम जीवन भर इस आशा—संभावना से जुड़े रहते हैं कि शायद प्यार इस एकाकीपन को भर देगा। कोई विवाह, कोई प्रेम-सम्बन्ध, कोई मित्रता या और कोई इन तीनों के सम्मिश्रण को काम का पुट देकर इस एकाकीपन को दूर करना चाहता है। लेकिन जितना हम किसी के क़रीब होते हैं—शरीर से या मन से उतना ही एकाकी होने का अहसास अधिक तीव्र होता चला जाता है। हम अपना शरीर शेयर करते हैं भय नहीं। संजोग से यह भ्रम उत्पन्न होता है कि हम शरीर की तनहाई से उबर आये हैं। हम दरवाज़े की ओट में खड़े रहते हैं—दहलीज़ पर शरीर की भी और मन की भी और एक-दूसरे से अजनबी रहते हैं—दिल का दरख़त भी कितना तनहा होता है यारो – न फूल, न फल, न पत्तियां···

और मैंने महसूस किया कि मैं एक गुफा में प्रवेश कर चुका हूं। गुफा आगे बन्द है और पीछे एक भारी चट्टान रख दी गई है।

मनुष्य कितनी राहों में, कितनी मंजिलों से होकर गुज़रता है। जीवन कितना छोटा होता है? और सफर कितना लम्बा। जब मैं बाहर देखता हूं तो मुझे स्वयं और अन्य में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता और जब भीतर झांकता हूं तो दिल पर छोटी-बड़ी कटी-फटी उलझती राहों का एक जंगल है जहां पगडंडियों के निशान गुम हो जाते हैं। एक ऐसा मानचित्र जिस पर नींद में या उन्माद में ही चला जा सकता है। होश में चलने का अभिप्राय है कांटों और अंगारों पर चलना। और यह सफ़र भावना, बुद्धि, स्वप्न, दिवास्वप्न और कल्पना की उड़ान ही तय कर सकती है। क्योंकि यह सफ़र हिचकाक की गली में से होकर गुज़रता है।

राबर्ट फ्रास्ट ने लिखा था कि जंगल में दो रास्ते अलग-अलग थे। मैंने उस रास्ते को चुना जिस पर बहुत कम लोग गये थे। और इसी से सब कुछ फ़र्क हो गया।

और मैंने अपने रोगों को स्वीकार कर लिया है चाहे वह श्वांस-रोग हो या उच्च रक्त-चाप या कैन्सर। या मन पर पड़ती लगातार चोटें।

मैंने हर दर्द को पलने दिया
हर ज़ख्म को बढ़ने दिया
हर रोग को जड़ पकड़ने दिया

मैंने समय पर किसी का इलाज नहीं किया। और न ही अब यह संभव है क्योंकि अब हर रोग लाइलाज हो चुका है।

मैं कापुरुष हूं, महापुरुष नहीं
मुझमें अहंकार नहीं।

लेकिन मैंने मात खाई है अपने अहं से।

जब-जब मैंने कोई दरवाज़ा बन्द पाया तो मैं दहलीज़ से वापस लौट आया। यह जानते हुए कि मैं स्वयं नहीं गया, बुलाया गया हूं। शायद उनका अहं भी इतना ही प्रौढ़ था।

वे भी चाहते थे कि मैं उनके दर पर दस्तक दूं।

हल्की ही सही।

वे प्रतीक्षा में थे मेरी दस्तक की।

और मैं सोचता था कि क्या कदमों की आहट काफी नहीं।

मैंने दस्तक नहीं दी।

उन्होंने दरवाज़ा नहीं खोला

और धीरे-धीरे सब दरवाज़े बन्द होते चले गये।

शायद अब भी कोई दरीचा खुला रहता है।

रात भर जिसमें जलती है एक नन्ही-सी कन्दील।

अध-खुले दरवाज़े की ओट से कोई निगाह ठिठककर रह जाती है।

पास जाता हूं तो निगाह कहीं दूर देखते पाता हूं।

राह चलते कोई छूकर निकल जाता है।

पहचान करता हूं अजनबी होता है।

हाथ उठते-उठते रह जाता है।

अचानक कहीं से कोई आवाज़ आती है,

पलट के देखता हूं,

सन्नाटा है।

कब कोई शरीर शोला-सा लपक गया।

कब कोई दिल मदिरा-सा छलक गया।

कब कोई किरण टूट के सौ रंग बिखेर गई।

कब कोई रंग तितली-सा उड़ गया।

कब कोई जुल्फ खुशबू-सी लहरा गई।

कब कोई आवाज अनहद नाद बन गूंज उठी।

"Thus in the winter stands the lonely tree
Nor knows what birds have vanished one by one
Yet knows its boughs more silent than before,
I cannot say what loves have come and gone,
I only know that summer sang in me,
A little while that in me sings no more."

× × ×

नारकण्डे की वह रात कितनी भयानक थी—नाले लम्बी ते नाले काली। बादल, बिजली, बारिश। पानी था कि बरसना जानता था, थमना नहीं। बादल आकाश पर नहीं धरती पर उमड़ रहे थे। यदि मुझमें उड़ान की तनिक भी शक्ति होती तो मैं एक ही उड़ान में इन बादलों के पार क्षितिज के उस छोर पर पहुंच जाता। बिजली चमकती। एक पल के लिए वीराना रोशन हो उठता और फिर रात और अधिक गहरी हो जाती।

उस अकेले चालनुमा कमरे में केवल कुछ लकड़ियां ही जल रही थीं। स्टोव की आवाज़

थी। पानी खौल रहा था और सब कुछ सुनसान था। शरीर भी अकेला था और मन भी अकेला। बाहर गहरी खाई थी, भीतर गहरा कुआं। पहाड़ी नाला तुन्द तेज़ बारिश के बहाव में बहता हुआ। आकाश स्याह, मेघ स्याह, भूमि स्याह, चट्टानें स्याह, जंगल स्याह, जल स्याह, शोर स्याह और शायद दिल भी यादों की कब्र बना स्याह हो चुका था, और स्याह मैं था कि मैं सुन्न हो गया।

मैं दिल्ली छोड़ के आया था। नगर-नगर घूमने के बाद। स्किज़ोफ़्रेनिया का रोगी शहर दिल्ली। बदचलन वेश्याओं का बसेरा दिल्ली, प्यार पर मर मिटने वाली महबूबाओं का मरकज़ दिल्ली। अब भी मेरे दिल में बसा हुआ था—"दिल भी तो एक शहर दिल्ली है। जो भी गुज़रा है उसने लूटा है।"

सहसा बिजली ज़ोर से कड़की – बादल घर्राये, शायद कहीं बिजली गिरी थी। पानी जैसे प्रलय का प्रवाह बनकर बहने लगा। और फिर मैं एक जंगल में दाख़िल हो गया। रात तूफ़ानी थी। पानी थम गया था। मुझे लगा कि मैं एक बैलगाड़ी में सवार हूं। बैलगाड़ी जंगल में अपनी राह ढूंढ़ती पगडंडी पर धीरे-धीरे चली जा रही थी। जंगल घना था और रात स्याह थी। सिवाय गाड़ी के नीचे जलते हुए हरीकेन लैम्प के मद्धिम—डोलते हुए पीले प्रकाश के सब सघन अंधकार था। सन्नाटा था। केवल बैलों के गले में लटकी घंटियां बज रही थीं या वृक्षों में से गुज़रती हुई हवा की सीटियां।

मैं था ! गाड़ीवान था। और दो बैल थे। पक्षी दूर देशों में वापस लौट गये थे। धीरे-धीरे पगडंडी भी खत्म हो गई। अब रास्ता केवल वृक्षों के झुरमुट में से होकर बनाना था। शायद इस जंगल में मनुष्य यहां तक ही पहुंच पाया था। आगे रास्ता स्वयं ही तलाश करना था। लेकिन किस लिए ? कहां है मंज़िल तेरी ऐ लाला-ए सहराई ?

अचानक बैलगाड़ी एक बहुत बड़ी हवेली के सामने रुक जाती है। लोहे और लकड़ी का पीतल की कीलों से जड़ा भारी-भरकम गहरे भूरे रंग का दरवाज़ा। दीवारें पत्थरों की। एक किला जिसके भीतर न जाने कौन-कौन दफ़न है ? मैं गाड़ी से उतर कर उसमें दाखिल हो जाता हूं। एक बहुत बड़े हाल में प्रवेश करता हूं। इर्द-गिर्द देखता हूं छत का पलस्तर गिर रहा था। दीवारों में स्वयंभू पौधे उग रहे थे। फ़र्श उखड़ा-उखड़ा ऊबड़-खाबड़ सीलन भरा था। खिड़कियों की लकड़ियों को दीमक चाट चुकी थी। एक कोने में कोई लालटेन अब भी जल रही थी। पलस्तर, मलबा, सीढ़ियां-सांप, गर्म अन्धेरे का पाताल। एकदम से कोई चमगादड़ सिर पर से गुज़र जाती है। रात की स्याही को और गहरा स्याह कर जाती है। जैसे रात को पर लग गये हों। सामने सिंहासननुमा कुर्सी पर दो लाल-लाल आंखें चमक रहीं थीं। इस कमरे में यही दो रोशन चिराग़ थे। शायद कोई काली बिल्ली थी। मैं किसी चुम्बकीय आकर्षण से उसकी ओर खिंचता चला जाता हूं। जब बिलकुल करीब पहुंच गया तो वह मुझ पर झपट पड़ती है। मुझे अपने पंजों में दबोच लेती है और अपने साथ उस सिंहासन पर गिरा देती है। और फिर···फिर होश नहीं रहा कि क्या होता है। डीयर नरेन्द्र मोहन, यह है वह काली बिल्ली जिसके बारे में तुमने कई बार पूछा है कि तुम्हारी कहानियों में यह काली बिल्लो बार-बार कहां से कूद पड़ती है ?

यह जीवित लोगों का निवास स्थान था या भूत-प्रेतों का बसेरा या मुर्दों का मरघट। या महज़ यादों का मसकन। यहां मनुष्य नहीं उसकी स्मृतियां जीवित हो उठती हैं। यहां होंठ नहीं ज़ख्म बोलते हैं। उस रात का न कोई आदि था न अन्त। सृष्टि के प्रथम तिम्र से जिसने जन्म लिया था। सूर्य जिस पर कभी उदय नहीं हुआ। बस एक सैलाब है अंधेरे का जो उमड़ता ही

चला जाता है। शायद आदम का आगमन ऐसी ही किसी रात में हुआ होगा। और जब प्रलय के दिन उसका अन्त होगा तो शायद ऐसी ही रात होगी।

मैं भय से सिमट गया। देव ! आवाज़ आई ! कैसे हो ? अच्छा हूं। तुम कितने बड़े हो गये हो ! खाना लाई हूं। ओह सुना है तुम खाना स्वयं बनाते हो। हां, अच्छा बना लेता हूं। जब बीमार पड़ते हो तो ? कुछ खा ही लेता हूं। और बाहर ? कभी-कभी। क्या कहा था उसने ? कहा था कि तुम्हारे परिवार में किसी को स्त्री का सुख नहीं मिला, तुम्हें नहीं मिलेगा। मां मुस्करा दी। लो खाओ। मैंने हाथ बढ़ाये। कुछ भी नहीं था। कोई भी नहीं था।

मां की मृत्यु को करीब ५० वर्ष—अर्ध शताब्दी बीत गई है। लेकिन मुझे ऐसा महसूस होता है कि मेरा कोई हिस्सा समय के उस बिन्दु पर ठिठक कर रह गया है। अभी भी वह जीवित है, उस एक क्षण में जब मां की मृत्यु हुई थी। मैं समय के साथ बहते-बहते कहां से कहां आ गया लेकिन वह क्षण काल बिन्दु बना वहीं रुका हुआ है।

समय की गति टारे न टरे। लेकिन ओ मेरे ईश्वर समय मरता क्यों नहीं ?

इसलिए कि मैं समय हूं।

अंधेरे में किसे ढूंढ रहे हो देव ! ओह शहला तुम यहां। हां, कितने वरस बीत गये। करीब २५-३० वर्ष। मैंने तुमसे कहा था ना कि मुझे साथ ले लो। हां, फिर तुमने कहा संभव नहीं—वेकार हूं। हां, तो फिर क्या हुआ ? मैंने पूछा। तुम बोले वेकारी सब कुछ तोड़ देती है प्यार-वफ़ा। मैंने कहा, तजुर्बा करने में क्या हरज़ है। तुम बोले विष पीने से क्या फ़ायदा ? मैंने जिद्द की। तुम माने नहीं। हां, तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं था। अपने पर भी नहीं ! नहीं, यह बात नहीं थी शहला ! मैंने ज़िन्दगी देखी है। रिश्ते किस तरह टूटते हैं। और मैंने कहा तुमने ज़िन्दगी को देखा है, मुझे नहीं। और अब—तुम बेकार नहीं। सब कुछ है तुम्हारे पास—सब सुख-सुविधायें तुमने संजो लीं। फिर भी तुम···खैर मैंने तो केवल यही कहा था न कि जब तुम पढ़ते-पढ़ते ऊंघने लगोगे तो धीरे से तुम्हें शाल ओढ़ा दूंगी। जब तुम लिखते-लिखते थक जाओगे तो तुम्हारी मेज़ पर गर्म-गर्म काफ़ी का प्याला रख दूंगी और हां तुम्हें सर्दियों में सांस की शिकायत हो जाती है ना। तुम्हारी छाती पर हौले-हौले बाम मल दूंगी और फिर बिल्ली-सी दुबक कर तुम्हारे पहलू में सो जाऊंगी। उसने क्या कहा था ? छोड़ो जो बीत गई सो बीत गई। देखो रात कितनी काली है। कितनी सिमटी हुई, सहमी हुई। ठिठुरी हुई है। कैसे काटोगे ? अभ्यस्त हो गया हूं। लेकिन तुम तो ज़िन्दगी को दोनों हाथों में भर कर जीना चाहते थे। हां, मैं जिन्दगी हूं देव ! मैं हाथ बढ़ाता हूं। कोई नहीं होता।

सर्दियों की सहमी-सिमटी ठिठुरी अंधेरी सुबह के कोहरे में जब किसी गाड़ी की रोशनी झलक जाती है तो मालूम नहीं क्यों उसका चेहरा सामने आ जाता है। जब सूर्य अस्त होने लगता है तो मालूम नहीं क्यों दिल डूबने-सा लगता है। पहले कभी ऐसा नहीं हुआ था।

ओह स्मृतियों के सर्प तुम मुझे बार-बार क्यों डसते हो ?

इसलिए कि तुम बार-बार मुझे कुचलते हो और मैं बार-बार जन्म लेता हूं।

मैंने अपने शरीर के भीतर बादलों की घन गरज, बिजली की कड़क और पहाड़ी नाले का शोर पहले कभी नहीं सुना था। मैंने कभी नहीं सोचा था कि शरीर भी भूमि बन जायेगा। इस तरह रौंदा जायेगा। भूचाल से लरज़ उठेगा।

मैं बाहर की ओर झांकता हूं। बैलगाड़ी खड़ी थी। मेरे बैठते ही गाड़ी चल देती है। मेरे पीछे एक जुलूस होता है—वे सब जिन्हें मैं बरसों पीछे छोड़ आया हूं। लौट आओ देव।

अब नहीं लौट सकता। आगे बड़ा भयानक जंगल है। और तुम अकेले हो।

—मेरे साथ गाड़ीवान है।

—तुम्हारा गाड़ीवान मर चुका है। यह उसका शव है।

मैं लपक कर गाड़ीवान से लिपट जाता हूं। और वह दीमक लगी दीवार की तरह ढह जाता है। न जाने कहां से एक खूंखार बिल्ली झपट पड़ती है और मुझ पर हमला कर देती है। ओह मेरे ईश्वर !

—लेकिन तुम्हें तो ईश्वर पर विश्वास नहीं था।

—तो फिर यह रात कैसे कटेगी ? जंगल कैसे पार होगा ?

—तुम्हारे पास तुम्हारे शब्द हैं।

जीवन भर शब्दों का मोह करते-करते मैंने कितने शब्द जमा कर लिये हैं। शब्दों की यह गठरी उठाये मैंने कितना लम्बा सफ़र तै कर लिया है। मैंने शब्दों की गठरी खोली। उफ़। शब्द भी करप्ट, कायर, हिपोक्रेट और पौरुषहीन हो चुके थे।

मैंने सोचा था कि मैं भय से मुक्त हो चुका हूं। मैंने सोचा था कि मृत्यु जीवन का अगला मोड़ है। मैंने सोचा था शब्द अमर है। मैंने सोचा था कि ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं। यदि कभी था तो अब वह मर चुका है। लेकिन कभी-कभी ईश्वर का अभाव बड़ा महसूस होता है। जब भी किसी नई कहानी के बारे में सोचता हूं। जब भी किसी अनजानी राह पर कदम रखता हूं। जब भी किसी अजनबी औरत से मिलता हूं तो मालूम नहीं क्यों यह एहसास होता है कि काश ईश्वर यहीं मेरे आस-पास कहीं होता।

मैंने सोचा था।···मैंने क्या-क्या नहीं सोचा था। यह सोच का सर्प किस-किस तरह कहां-कहां नहीं डस रहा। मुझे महसूस हुआ कि मेरे अन्दर अब कोई वसन्त नहीं। पतझड़ की धुआं-धुआं कई शामें हैं। यह ज़िन्दगी की शाम भी कहां हुई ? ''कब मिली, कहां बिछड़ी थी हमें याद नहीं। ज़िन्दगी तुझ को तो बस ख्वाब में देखा हमने।''

हर घर में एक कोना होता है जहां आदमी तनहाई में रो सकता है। दिल भी तो ऐसा ही एक कोना है। न जाने कौन इसमें नन्हा-नन्हा-सा दीया जला जाता है—और गुलमोहर के रजूले फूल खिल उठते हैं। उल्लास के पेशनीले पुष्प पुलकित हो उठते हैं। यह कौन है जो चुपके से इस दिल में दाख़िल होता है और जब भी बुझने लगता है तो इसकी लौ को ऊंचा कर देता है।

शफ़क़रंग ज़िन्दगी की यह शाम भी कहां हुई !

ज़िन्दगी हमने तुमसे बहुत प्यार किया है, बहुत चाहा है। तुम हम से रूठी भी। बेरुखी भी बरती। लेकिन हमारी चाहत कम नहीं हुई। हमने तुमसे बेवफ़ाई नहीं की। थोड़ी-सी भी नहीं। आज इस ढलते हुए सूर्य के सामने बैठे जब हम तुमसे धीरे-धीरे दूर हो रहे हैं तो न जाने यह शेर बार-बार क्यों याद आ रहा है :

'भीगी हुई इक शाम की दहलीज़ पर बैठे।
हम दिल के सुलगने का सबब सोच रहे हैं।।

□

मराठी कहानी

झूला

□ विजया राज्याध्यक्ष

यहां एकदम शांति थी। चहल-पहल, आवागमन बिल्कुल भी नहीं था। जगह भी वैसे खुली-खुली थी। हॉल, दो मध्यम आकार के कमरे; रसोई घर तथा छोटी-सी बाल्कनी, बाल्कनी में पहले वाले किरायेदार के रखे कुछ गमले पड़े थे जिनमें से एक-दो पौधों पर फूल भी खिले थे। कहते हैं कि उस व्यक्ति को बहुत बड़े बगीचे वाला बंगला मिला था, इसलिए उसने सोचा होगा, अब इन गमलों का क्या किया जाए? सुमित्रा के सामने भी यही प्रश्न था, मुझे बगीचे का बिल्कुल भी शौक नहीं है। फूल बालों में भी नहीं लगाती मैं तो, उमर ही निकल गयी है अब तो इसकी। अब मेरे लिए भी इन गमलों का क्या उपयोग? इससे पहले एकाध जगह ऐसी मिली होती तो···इतने सुन्दर गुलाब देखकर तो नीता खुशी से फूली न समाती।···विश्वास को भी बाल्कनी में कुर्सी डालकर बैठना अच्छा लगता···।

विचार इस तरह इधर-उधर भटककर घर की दिशा की ओर दौड़ने लगे तो, सुमित्रा ने जबरदस्ती उन पर रोक लगा दी। उसने फिर से एक बार स्वयं को चेतावनी दी कि तुम्हें अब केवल वर्तमान काल में रहना है।

यह सम्भव हो, विचार छूटे, उससे अलग हो इसलिए वह बाल्कनी में आकर खड़ी हो गयी। बाहर कितना सुन्दर था। एकदम सामने ही गुलमोहर की लाल ज़र्द फूलों से लदी डाली हवा में झूल रही थी। थोड़ी दूरी पर बने तालाब के किनारे गुलमोहर के कई पेड़ थे, कई दूसरे पेड़ों के बीच बरसात अभी-अभी समाप्त होने के कारण पेड़ हरे-भरे और ताजे लग रहे थे। पेड़ों की भीड़ में तालाब गुम हो गया था। बारीकी से देखने पर ही पानी की एकाध पट्टी दिख पाती थी। उतना ही उस पानी में साफ नीले आकाश का प्रतिबिम्ब।

यह सब मुझे प्रतिदिन दिखाई देगा। और यह सब आराम से देखने की फुर्सत भी रहेगी? सुमित्रा को विश्वास ही नहीं हो रहा था। बम्बई में अपने सिर पर बैठी घर की और बाहर की भाग-दौड़ क्या सचमुच ही खतम हो जाएगी? इतनी शान्ति, इतनी स्वतंत्रता जीवन में पहली बार मिली है, क्या उसे मैं पसन्द कर पाऊंगी? या आदत न होने के कारण बोरियत महसूस होगी···

इस तरह के प्रश्न भी नहीं आने चाहिए मस्तिष्क में, पसन्द आयेगी का क्या मतलब?

पसन्द आना ही चाहिए। इसी खुलेपन, इसी स्वतंत्रता का तो जीवन भर इन्तजार कर रही थी। उसके लिए जो चाहे सो करने को तैयार हूं, ऐसा बार-बार कहती थी, वह मिल नहीं पाती थी तो मन आक्रोश से भर उठता था। और अब वही स्वतंत्रता मुंह के सामने आने पर मन में इस तरह की आशंकाएं क्यों? मुझे क्या चाहिए, यही बात अभी तक मेरी समझ में नहीं आयी, यही मतलब निकलता है न इसका?

नहीं, ऐसा बिल्कुल भी नहीं है। मुझे यही चाहिए। न तो हमेशा के लिए ही छुट्टी लेनी है और न ही हमेशा के लिए उलझना भी है। जीवन की संध्या के समय थोड़ा-सा मुक्त, थोड़ा-सा पृथक् रहना है। थोड़ा-सा अपने लिए जीना है, अपने आप पर का कर्ज चुकाना है, जितना चुका सकूं उतना ही सही।

इसीलिए तो यह निर्णय लिया है न? फिर यह कशमकश, यह उदासी क्यों? शायद नयेपन के कारण या मेरी अनभ्यस्तता के कारण। हो जायेगी धीरे-धीरे आदत। लेकिन बहुत अधिक किसी बात की आदत होनी नहीं चाहिए, इन आदतों में से ही बंधन निर्मित हो जाते हैं। अब बंधन नहीं चाहिए न औरों द्वारा लादे गए और न स्वतः निर्मित ही।

गुलमोहर की झूलती डाली पर एक सुन्दर-सा पंछी बैठा था। डाली के साथ वह भी झूल रहा था, डाली पर होने पर भी अधर में होने जैसा लग रहा था।

उस पंछी की ओर देखते हुए सुमित्रा सब कुछ भूल गयी। वह अपने में एकदम से हलकापन, शांति महसूस करने लगी। हवा में तैरने का भास हो रहा था उसे। अपने साथ दो-चार नयी किताबें लाई हूं, बैठते हैं पढ़ते हुए। अब जल्दी किस बात की है? शाम को भोजन में क्या बनाया जाए, किसे क्या पसन्द है, कल को बाहर निकलने से पहले क्या तैयारियां करनी हैं··· किसी बात की चिंता नहीं।

वह पंछी अभी भी वहां मजे में झूल रहा था। उसकी हलकी-सी सीटी, कुछ तो कह रही थी जरूर···

एक तश्तरी में आमलेट और टोस्ट लेकर खाते हुए सुमित्रा को मजा आ रहा था कितनी जल्दी निपट गया रात का काम! ये दो-चार बर्तन साफ कर लिये कि बस। बर्तन भी अधिक नहीं लाई। मात्र आवश्यक सामान ही लायी हूं अपने साथ। इससे शायद थोड़ी बहुत तंगी हो सकती है। निकलते समय विश्वास कह रहे थे। 'वहां किसी चीज़ की जरूरत हो तो खरीद लेना। मुझे लिख बताना – पन्द्रह बीस दिनों में मेरा फेरा रहेगा ही, यहां से कुछ लगे तो मैं लेता आऊंगा।' उसने ऊपर-ऊपर हां भरी थी लेकिन मन में निश्चय कर लिया था कि 'कुछ भी लाने को नहीं कहूंगी।' फैलाव बिल्कुल भी बढ़ाना नहीं है। घर की प्रत्येक वस्तु अपने चारों ओर एक घेरा बना लेती है। अब खत्म हुए ये घेरे। देखें तो सही आजमा कर। वर्षों से वही-वही क्या?

सुमित्रा ने महसूस किया कि यहां आने पर वह बार-बार स्वयं पर ही 'मनाई हुकुम' लगाती जा रही है। उसे हंसी आ गयी। लगने लगा कि इतनी सख्ती ठीक नहीं। सब कुछ सहज होना चाहिए।

उसका काम निपट ही रहा था कि दरवाजे पर दस्तक हुई। उसने दरवाजा खोला। निचली मंजिल पर रहने वाली महिला आयी थी। उसकी और उनकी थोड़ी-सी पहचान हो चुकी थी। उन्हें किसी ने वीणाताई' कहा था, उसे याद आया।

"आइए···"

"सुबह की गड़बड़ में कुछ जमेगा नहीं, इसलिए अभी आयी हूं। आपके सोने का समय तो नहीं हुआ न?"

"नहीं-नहीं, बैठिए न?"

"दुपहर में आपसे उड़ती-सी भेंट हुई थी। सोचा, रात में आराम से जाकर आपको किसी चीज की जरूरत है या नहीं पूछ लूं..."

"अभी तो सब ठीक-ठाक है। कुछ लगेगा तो कहूंगी, जरूर।"

"बम्बई में कहां रहती हैं आप?"

"सुमित्रा जान गयी कि पूछताछ शुरू हो गयी है। न थकते हुए जवाब देना होगा। संक्षेप में ही क्यों न हो पर जवाब देना ही होगा। मानो एकाध फार्म भरना हो। जन्म तारीख रहने का स्थान और बहुत कुछ..."

"आप अकेली ही आई हैं?"

"हां, बाकी कौन आयेंगे सभी अपने-अपने कार्यों में व्यस्त हैं।"

"पतिदेव की सर्विस कहां है?"

"टेल्को में काम करते हैं।"

"बच्चे बड़े हो गये होंगे?"

"हां, बड़ी बेटी का विवाह हो चुका है, दूसरी की पढ़ाई अभी-अभी पूरी हुई है। बेटा अभी पढ़ रहा है।"

"कम से कम, उसे ही साथ ले आना था। आपको उतना ही साथ रहता।"

"बीच ही में कैसे आ पायेगा वह? फिर वैसे भी उसे बम्बई में ही रहना पसन्द है। बम्बई छोड़कर कहीं नहीं जाना है। कहता है वह। और सच कहूं, तो उसका कहना सही भी है। जवानी में बम्बई ही ठीक रहती है। वहां रहने से बहुत कुछ मिल पाता है। बम्बई तो छोड़ना चाहिए, हम जैसों ने -- वहां की भाग-दौड़ निभ नहीं पाती तब।"

"जानबूझकर तबादला करवा लिया है?"

"जानबूझकर तो नहीं, लेकिन यह सच है कि जब हुआ तब इंकार नहीं किया। पीछे एक-दो बार मना कर दिया था।"

"उस समय बच्चे छोटे रहे होंगे। घर में कोई बुजुर्ग है या नहीं?"

"नहीं।"

उनका उनसे निभेगा? घर का पसारा कम नहीं होता। एक स्त्री दृढ़ता से खड़ी रहती है इसलिए दूसरे जान नहीं पाते, इतना ही..."

"हूं!"

"बच्चों ने भला छोड़ दिया आपको?"

"उनके छोड़ने का सवाल ही कहां उठता है? मैंने अपना निश्चय आप किया..."

सुमित्रा एकदम होश में आयी कि वह स्वयं से ही न बोलते हुए वीणा देवी के प्रश्नों का उत्तर दे रही है। उनकी और अपनी पूरी तरह से जान-पहचान भी नहीं, अपने बारे में कोई भी अनावश्यक जानकारी इन्हें नहीं मिलनी चाहिए। औपचारिक, जितना पूछे उतना ही बताना चाहिए। थोड़ा सम्हलकर भी बताना चाहिए। पूरा संदर्भ पता न रहने से और आधी-अधूरी बातें कानों पर टकराने के कारण किसी भी प्रकार की गलतफहमी पैदा नहीं होनी चाहिए।

इसलिए अधूरे छोड़े वाक्य को उसने जल्दी से पूरा किया, 'मतलब विरोध किसी का भी

नहीं था। बल्कि हमारे इनका तो बहुत आग्रह था। कहते थे, "तुम स्त्रियां केवल स्त्री मुक्ति की बातें ही करती हो। चाहिए कहां तुम्हें यह मुक्ति? अब मौका मिला है तो देखो कोशिश करके।"

"सच कहते हैं वे। आप जैसी नौकरी-पेशा स्त्रियों को ऐसा मौका मिल भी सकता है हम जैसों को क्या करना चाहिए? घर याने घर। मेरे पतिदेव कहते हैं, "यही ठीक है। आजकल बाहर की दुनिया बड़ी क्रूर हो गयी है। तनाव बढ़ गये हैं। घर है इसलिए सुरक्षा है···" उनके कहने में सचाई है। फिर भी कभी-कभी लगता ही है कि···चलती हूं अब, सब समेटना है अभी। राजू को दूध देना है। आप आइए न कल हमारे यहां ताकि सबसे परिचय हो जाये···।"

"आऊंगी।"

सुमित्रा अपने में ही खोई थी। वीणा ताई कब चली गयी इसका उसे पता ही नहीं चला। उसकी दृष्टि में संवाद कभी का समाप्त हो चुका था। अब उसका स्वगत चल रहा था। घने अंधकार में वह स्वगत भरा हुआ था। इतनी देर से थामकर रखा हुआ भूतकाल तेजी से अन्दर घुस आया था।

बाईस वर्ष बीत गये। जीवन कितनी तेजी से आगे बढ़ता गया? उस समय मैं कितनी अलग थी। गृहस्थी की अभी-अभी शुरुआत ही हुई थी। उत्साह था, उम्मीदें थीं। गोरे गांव जैसी दूर की जगह पर रहकर, प्रतिदिन फोर्ट तक पहुंचना होता था, उन दिनों शायद इतनी भीड़ नहीं बढ़ी थी। लेकिन भीड़ यदि होती तो भी कुछ महसूस नहीं होता। बहुत कुछ करने को मन होता। शाम को ऑफिस से सीधे घर आये हों, ऐसा कभी भी नहीं हुआ। दोनों कहीं बाहर ही मिलते। घर के लिए कुछ न कुछ खरीदा जाता। मूड हुआ तो बाहर से ही खाकर घर लौटते थे। घर आने के बाद रसोई बनाने का भी आलस नहीं था। पाक कला की कितनी किताबें इकट्ठा कर रखी थीं। हमेशा कोई न कोई प्रयोग। मित्रों तथा रिश्तेदारों को शौक से अपने घर बुलाकर उनसे अपने घर की साफ-सफाई, सजावट और पाक कौशल की प्रशंसा सुनकर मन ही मन पुलकित होना, घर को हमेशा नये ढंग से सजाकर नया रूप देते रहना आदि बातों में पहले ही वर्ष में कितनी शीघ्रता से अपना मन रम गया था! कुछ लोग कहते भी थे उस समय, "इतनी पढ़ी-लिखी हो तुम। नौकरी भी करती हो। फिर भी तुम्हें घर का आकर्षण है। स्त्रियों में कुल मिलाकर परिवर्तन आना मुश्किल ही है!" किसी ने धोखे की लालटेन भी दिखायी थी, "अभी सब अच्छा लग रहा है। लेकिन आगे आलस आयेगा, हां! अभी से संभल जाओ!" लेकिन इतना आगे का विचार किया किसने था? एक-एक बंधन बंधते चले गये। वह बंधक है···यह बात, उस समय लगी ही नहीं, उल्टे लगता था कि कितना मुक्त जीवन है! विवाह के पूर्व जो बंधन थे, वे अब नहीं हैं। विश्वास के सहारे मनमाना कर सकती हूं···

यह चित्र कब बदल गया? रूपा होने के लक्षण नजर आने लगे तब। उसके जन्म के बाद तो बहुत ही। घूमना-फिरना करीब-करीब बंद ही हो गया था। एक विश्वसनीय आया मिल गयी थी, वह कुछ घण्टों तक रूपा को संभालती थी। इसलिए नौकरी जारी रह सकी थी बस। लेकिन और कुछ कर पाना असम्भव था। घर लौटने के बाद रूपा चिपक जाती थी। उसके साथ कभी-कभी बड़ा मजा आता, तो कभी-कभी परेशानी महसूस होती। उसे संभालते हुए, गृह कार्य निपटाने में थक जाती थी। इसलिए कोई पराया न आये, यही इच्छा रहने लगी। गृहस्थी तो बसाई ही थी, इसलिए मेहमानों का आना एकदम बन्द होने वाला थोड़े ही था ऊपर-ऊपर सब संवारना पड़ता था, लेकिन अन्दर ही अन्दर कुढ़ती रहती थी। कितना समय

बेकार जा रहा है ? इतने में कुछ पढ़ सकती थी, थोड़ा आराम कर सकती थी— इस बात का मनस्ताप होता रहता था। सब काम सफाई और करीने से करने की आदत के कारण किसी तरह निपटाते समय दुख होता रहता था। रूपा बड़ी हो रही थी···लेकिन यह खींचतान रुक नहीं सकी। रूपा के बाद नीता का जन्म हुआ, चक्र घूमता ही रहा। इसलिए नहीं···सही कारण तो दूसरा ही था। परिस्थितियों के साथ का सुसंवाद ही समाप्त हो गया था। गाना बीच में ही बेसुरा हो जाय, और यह बेसुरापन बीच-बीच में डंक मारता रहे, ऐसी गत हो गयी थी।

ऐसी अवस्था में विश्वास की मदद कितनी थी ? वह ध्यान नहीं देते थे, ऐसी बात नहीं थी। अपना काम वे मुझ पर नहीं डालते थे, लेकिन बराबरी की मदद करना उन्हें नहीं जमता था। इस तरह के कामों की उन्हें आदत भी नहीं थी। इसके अलावा उनके ऑफिस का काम भी धीरे-धीरे बढ़ने लगा था, नयी जिम्मेदारियां उन्हें सौंपी जाने लगी थीं। दौरे भी शुरू हो गये थे। महीने में कम से कम आठ-दस दिन तो वे घर पर नहीं होते। बचे हुए समय थोड़ा उखड़े-उखड़े रहते।

सुमित्रा कभी-कभी मज़ाक में कह देती, "संसार रथ के दो पहिये वगैर कुछ भी सही नहीं हैं जी, एक पहिया धंस जाता है···और वही धंसा हुआ पहिया घिसटता हुआ रथ को आगे बढ़ाता है।" विश्वास यदि अच्छे मूड में होते तो हंस देते। परंतु कभी-कभी उन्हें यह अच्छा नहीं लगता और वे तेजी से कह उठते, "दूसरा पहिया तुम्हारी राय में एकदम ही बेकार है तो।"

"नहीं, ऐसी बात नहीं, किंतु···!"

ऐसे अनेक बेबनाव के कारण, कभी-कभी लम्बी चलने वाली बहसें, बढ़ते तनाव। ऐसा होना नहीं चाहिए यह बात सुमित्रा समझ रही थी। फिर भी अब उसके हाथ में कुछ नहीं रह गया था। अचानक ही सुलग उठते थे दोनों। और उसी तरह अचानक बुझ भी जाते थे। विश्वास सब मिटा देते थे। वे कहते, "मुझे तुम्हारी खींचतान समझनी है। क्यों नहीं छोड़ देती नौकरी ? शरीर को थोड़ा आराम मिलेगा···"

"नौकरी छोड़कर क्या करूं ? चौबीस घण्टे घर में रहूं ? कल्पना भी सहन नहीं होती। एक तो इसकी आदत भी नहीं, दूसरे, जिस काम को करने में मुझे आनन्द मिलता है उसे छोड़कर दूसरा कुछ करूं ? नौकरी है, इसलिए इतना भी ठीक-ठाक है। अन्यथा···"

कभी-कभी सुमित्रा के कहने में विपरीत मतलब दिखायी पड़ता। वह कहती, "यह पुरुष अहंकारी है···स्त्री को सब करना चाहिए और ऊपर से तुमको यह सब करने की जरूरत नहीं···मुझमें सामर्थ्य है इस बात की अकड़ !"

"ऐसी बात नहीं है, सुमि !"

तूफान उठे और शांत हुए। बच्चे बड़े होने पर तनाव थोड़ा कम हो गया। मन में फिर से उमंग जाग उठी। बच्चों को ठीक से बड़ा करना है···सर्वांग से उन्हें ऊंचा उठाना है, यह ज़िद जड़ जमाने लगी। उसके लिए जो चाहे, करेंगे, बच्चों को किसी बात की तंगी नहीं पड़नी चाहिए। कोई भी रुकावट बीच में नहीं आनी चाहिए···

सुमित्रा की ससुराल और पीहर वाले बुजुर्गों को उसकी यह बात पसंद नहीं थी। वैसे उसका संबंध भी, दोनों ही घरों से कम था। उसके पास समय नहीं था, पर फिर भी बीच-बीच में आना-जाना लगा रहता था। किसी ने भी—साफ-साफ कुछ पूछा नहीं, फिर भी लड़कियों को इतनी छूट देना गलत है, ऐसी ध्वनि उनकी बातों में रहती। बहस करने में कोई तुक नहीं थी।

हरेक का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है, और इतना कुछ बदल जाने के बाद भी आज वह दृष्टिकोण थोड़ा पुराना ही है, यह सुमित्रा जानती थी। इसलिए वह सब वहीं छोड़ देती थी कभी नहीं सहा जाता तो मां के साथ उलझ जाती थी।

"तुम भी ऐसा क्यों बोलती हो मां ? इतनी बुद्धिमान लड़कियां हैं। उनको क्या विवाह करके झटका दिया जाय ? वे मानेंगी भी क्या इस बात को ? बीस वर्ष पहले मैंने भी माना था क्या ? मान लिया होता तो क्या होता ? सिर्फ चूल्हा-चक्की और बच्चे ही संभालती होती ! गये अब वे दिन···"

"यह तू मुझे मत सिखा ! फिर भी मुझे लगता है कि कुछ बातें अपने समय पर होना ही ठीक है !"

'तुम्हारा विवाह एकदम समय पर हुआ। इससे कौन-सा सुख मिला तुम्हें ? घर के पंगु लोगों को संभालने में लगी रही···कभी कहीं गयी भी नहीं !'

"फिर उन्हें कहां छोड़ देती ? पंगुओं को सम्हालने के लिए ही तो स्वस्थ लोग होते हैं। तू कहां मानेगी इस बात को ? तू तो आजकल उनकी पूछताछ भी नहीं करती। तेरी चाची, कितने ही दिनों से तुम्हारे घर आना चाहती है···तुम्हारी गृहस्थी देखने की इच्छा है···"

"सब सही है लेकिन आजकल मैं कठोर हो गयी हूं। साफ-साफ ही कहती हूं, मुझे पहले अपने बच्चों का सब ठीक-ठाक करने दो। उसमें किसी भी प्रकार की रुकावट या विघ्न आया तो मुझे नहीं चलेगा।"

मूल मुद्दा छूटकर हमारी बातचीत दूसरी ओर ही मुड़ जाती थी। फिर भी मां के साथ बात करने पर हलकापन महसूस होता था, कहीं न कहीं मन में अपराध-बोध था ही। मां के पास उसका समर्थन करने से वह भावना कम हो जाती थी। लेकिन अब तो मां भी नहीं है यहां। मन की परतें खोलूं भी तो किसके पास ! बहुत सारा जमा हो गया था, इससे अस्वस्थता बढ़ गयी थी। बहुत ही असहनीय होने पर विश्वास के पास शिकायतों के अम्बार···?

इन दिनों की प्रमुख शिकायत रूपा को लेकर थी। दूसरों का कहा सच मानने लगूं, ऐसी स्थिति बन गयी थी। पढ़ाई अच्छी तरह से पूरी करके वह नौकरी करने लगी थी। उसके चारों ओर बुद्धिमान मित्रों और सहेलियों का जमघट लगा रहता। और वह अपने में ही मगन रहती। घर से वह अधिक जुड़ी ही नहीं। और यही बात सुमित्रा को खटकती थी। लोगों का, उनका दृष्टिकोण पुराना, कहकर कभी माना नहीं। लेकिन अपनी भी अपेक्षाएं दूसरों से क्या अलग हैं ? लड़की मदद करे, सहेली की तरह अपने को भी समझ लें, यही तो मुझे भी लगता है—यही सुमित्रा की जब समझ में आया तो वह चिंतित हो उठी। मतलब यह धीरे-धीरे बढ़ेगा ही ! मैं भी एक दिन रूपा के विवाह की फिकर करने लगूंगी ? तनाव और भी बढ़ेंगे।—उसके पहले ही सब कुछ ढंग से हो जाय, इसके लिए सुमित्रा प्रयत्न करने लगी। अपने प्रयत्न कोई मतलब नहीं रखते यह वह जानती थी, फिर भी उससे रहा नहीं जाता था···

विश्वास कहते, "कितनी बदल गई हो तुम ! समस्या को इस तरह से हाथ में लोगी, ऐसा कभी नहीं लगा था।"

"नहीं लगा होगा···लेकिन कहीं भी मेरा इलाज नहीं है। शरीर के साथ-साथ मन में भी परिवर्तन होते रहे हैं, वह मुझे स्वीकारने ही होंगे। सच कहूं तो इन दिनों मुझे बार-बार ऐसा लगता है कि स्वतंत्र हो जाऊं।"

"स्वतंत्र ही हो ! और ऐसा कौन-सा पसारा है तुम्हारे पीछे ? संयुक्त परिवार होता

तो···वह लादा हुआ रहता। अपना परिवार तो हमने ही बनाया है उसे कहां पटक दिया जाय ?''

''सब सही है किसी को भी पटकना नहीं है। लेकिन अब अपने लिए थोड़ा समय निकाल कर जीना है···''

''तुम वास्तव में कहना क्या चाहती हो ?—यही मुझे कभी-कभी समझ में नहीं आता। और जो कुछ समझ में आता है वह···I do'nt think you mean it ! बेकार में बकती रहती हो बस। वैसा ही महसूस करतीं तो हाथ आया मौका छोड़ नहीं दिया होता। एक साल की स्कॉलरशिप मिल रही थी, ठाठ से शांति निकेतन जाकर रह सकती थीं !''

विश्वास के कहने में सचाई थी। एक-दो बार मौका आने पर भी मैंने वह छोड़ दिया था। दूसरे शहर में तबादला हुआ था, उन लोगों ने रहने के लिए जगह देने का भी वादा किया था। वेतन और प्रतिष्ठा दोनों ही बढ़ने वाले थे लेकिन उस समय मना कर दिया था। तबादले को रद्द करने के लिए बड़ी खटपट करनी पड़ी थी। और जब सफलता मिली थी तो शांति मिली थी। मतलब यही न कि एक ओर तो स्वच्छंद जीने की चाह और दूसरी ओर दूसरों में अधिकाधिक उलझते रहना। हरेक स्त्री के जीवन में क्या इस तरह की उथल-पुथल मचती है ? झूला झूलता ही रहता है ? उसे स्थिरता नहीं मिल सकती कभी ?

मन इसी भंवर में फंसा था कि एक सुदिन उगा। रूपा ने बताया, ''मेरा विवाह हो, यह तुम्हारी इच्छा थी न ? मैंने वह तय कर लिया है···'' यह सुनकर खुशी होने की बजाय हृदय किसी आशंका से धड़क उठा। कहीं कुछ गड़बड़ तो नहीं कर बैठी यह लड़की ? पर रूपा से पूरा ब्योरा सुनने के बाद शांति हुई। अविनाश अच्छा लड़का था। बुद्धिमान, ध्येयवादी, सीधा, सरल। वह रूपा को संभाल लेगा इस बात का भरोसा हो गया। रूपा में हठधर्मिता थी, उसके स्वभाव के और भी कंगूरे थे। पर अब अविनाश के रहने से किसी बात की चिंता नहीं, फिर मैं भी तो हूं ही · अभी दो गृहस्थियां संभालने की हिम्मत है। मन में उमंग हो तो शरीर अपने आप साथ देने लगेगा। रूपा के विवाह की खबर से मन में उमंग आनी ही चाहिए !

यहां एक और मोड़। झूले को एक बड़ी पेंग लगी, उसे आकाश में ले जाने वाली। भूमि पर से पैर छूटे हुए। उस बेहोशी में कुछ भी पता नहीं चला। फिर से घेरों ने कसना शुरू कर दिया है इसका भान ही नहीं रहा। क्योंकि ये घेरे किसी दूसरे ने नहीं, बल्कि खुद ने ही कसे थे। घर में की कम की हुई आ-जा फिर से बढ़ गयी। लेकिन इस आ-जा में थकावट नहीं थी, आनन्द था। बच्चे भी उसमें शामिल हो गये थे। नीता भी अब बड़ी हो गयी है, उसको भी अब अपना मार्ग चुन लेना चाहिए, यह चिंता भी उस खुशी में कहीं तिरोहित हो गयी थी। रूपा ने बड़ा दिलासा दिया था। उसका व्यवस्थित चल रहा है···सबका ही व्यवस्थित हो जायगा··।

किंतु धीरे-धीरे ध्यान में आने लगा कि रूपा, अपने घर में भी अधिक रम नहीं पाती है। सुमित्रा को साफ-सुथरा रहने का शौक, तो रूपा का सारा बिखरा हुआ। एक ही शहर में होने के कारण यह अखरता था। फिर बीच-बीच में उसके यहां चक्कर। सब करीने से लगा देना, घर में सब सौदा लाकर रखना। अपने घर के लिए लाया हुआ सामान, उसके यहां भी पहुंचा देना। धीरे-धीरे इस पर से कहा-सुनी होने लगी।

''मम्मी ! इतना सब मत भेजती जाओ, मुझे कहां समय रहता है करने को ? बीच में इडली का रवा भेजा था···अभी तक रखा है !''

सुनकर सुमित्रा को मन ही मन गुस्सा आया पर ऊपर से उसने दिखाया नहीं।

"मैं आकर बना दूंगी एकाध बार इडली !" उसने रूपा से कहा।

"लेकिन मम्मी। हर घर में इडली होनी ही चाहिए ऐसा कहां नियम है? खाने की इच्छा हुई तो बाहर सैकड़ों दूकानें हैं।"

"घर में बनी इडली का स्वाद कुछ और ही होता है।"

"मुझे नहीं तुम्हारे जैसा घर चलाना ! मेरा करियर महत्त्वपूर्ण है। वह संभालते हुए जितनी कर सकूंगी, उतना ही काफी है ! अविनाश को शुरू में ही मैंने साफ-साफ बता दिया था। उसे भी यह स्वीकार है।"

"करियर, करियर क्या ले बैठी हो? मुझे नहीं थी करियर? -- उसे संभालते हुए मैंने नहीं किया सब?" सुमित्रा ने चिढ़कर कहा।

"तुम्हारी बात अलग है, मेरी अलग।" रूपा ने शांतिपूर्वक उत्तर दिया।

सच पूछा जाये तो उसी समय समझ जाना चाहिए था। लेकिन ममतावश नहीं समझ पायी। अलावा इसके, उस समय रूपा गर्भवती थी। मन नये मेहमान के आगमन की आहट लेने में ही मग्न था।

नचिकेत के जन्म के बाद तो चित्र ही बदल गया। रूपा के घर होने वाले फेरे बढ़ गये। बीच-बीच में नचिकेत नानी के घर रहने लगा। कभी रूपा को काम होने की वजह से तो कभी उसे बाहर जाना होता इसलिए या कभी वह बीमार होता इसलिए। सुमित्रा को कभी इस बात की तकलीफ़ महसूस नहीं हुई। उल्टे नचिकेत अपने घर चला जाता तो उसे घर सूना लगने लगता। वह फिर से कब आयेगा, इसकी आतुरता बढ़ जाती···उसके जाते समय वह रूपा को ढेरों सूचनाएं देती·· वह ध्यान नहीं दे रही है यह जानते हुए भी।

देखते-देखते नचिकेत दो वर्ष का हो गया। उसे संभालने के लिए एक अच्छी-सी आया मिल गयी। रूपा का जीवन बिना किसी अवरोध के शुरू हो गया। वह सुबह से ही घर से बाहर रहने लगी थी। सुमित्रा का जी लेकिन मचलता रहता था·· दिन भर में वह दो बार तो फोन जरूर करती। इसके बिना उसे चैन नहीं पड़ता था। रूपा उखड़े-उखड़े जवाब देती है यह उसके ध्यान में आ गया था। अविनाश लेकिन ढंग से बात करता, उसकी आवाज में कृतज्ञता के भाव रहते।

"तुम मत बार-बार फोन किया करो। मुझे उसकी फिकर नहीं है क्या?"

"रहने भी दो रूपा, तुम्हें क्या तकलीफ होती है? उतनी ही मेरी और मम्मी की बातें हो जाती हैं। वैसे कहां मिलना होता है उनसे मेरा?" अविनाश।

"मिलने के लिए तुम घर पर ही कब रहते हो?"

"काम रहता है, क्या कर सकता हूं?"

"इसीलिए कहती हूं, मेरा मुझे मैनेज करने दो।"

रूपा, अविनाश की इस तरह की बातचीत सुन सुमित्रा बेचैन हो जाती। इनका ठीक-ठीक चल रहा है न? इस वातावरण का नचिकेत पर कुछ असर हुआ तो?—अनेक आशंकाएं, और इसीलिए नचिकेत में मन अधिकाधिक उलझने लगा।

और एक दिन स्फोट हो गया। नचिकेत बच्चा था, छोटी-मोटी बीमारी हमेशा चलती ही रहती। उसमें चिंता करने जैसा कुछ भी नहीं होता, फिर भी सुमित्रा का मन बेचैन रहता। नचिकेत के बीमार होते ही वह संतुलन खो बैठती। इस पर से उसकी और विश्वास की

बहस होती ।

"अपने बच्चे नही होते थे बीमार ? उस समय क्या सारा काम-काज बन्द कर हम घर में बैठते थे···यह चलता ही रहेगा, रूपा बाहर जाती है तो कुछ गलत करती है, ऐसा मुझे तो नहीं लगता···"

"उसे जाने दो न, मैं उसके पास बैठी हूं । मेरा मन नहीं लगता और कहीं । इसके लिए मैं भी क्या करूं ?"

"तुम्हें खुद को सम्भालना चाहिए । आखिर रूपा उसकी मां है । उसे ऐसा नहीं लगना चाहिए कि···"

कभी परोक्ष में तो कभी साफ-साफ शब्दों में विश्वास ने उसे बहुत समझाया । उनका सुना होता तो अच्छा होता । लेकिन मन का संतुलन खो गया था न तब···इसलिए एक दिन विश्वास को जिस बात का डर था, वही हुआ । रूपा ने आरोप लगाया, "तुम बहुत इन्टरफियर करती हो ।" सुनकर धक्का लगा ।

"क्या कहना है तुम्हें ?"

"जो अभी कहा वही ! मुझे आजादी से कुछ करने ही नहीं देतीं तुम । मेरे यहां पार्टी हो तो टेंशन तुम्हें । नचिकेत के बीमार होने पर, मुझसे ज्यादा तुम्हें फिकर । कैसे चलेगा ?"

और भी बहुत कुछ । क्रोधित व्यक्ति के शब्दों का कोई अर्थ नहीं होता । वे शब्द सुनने वालों के मन में से कालांतर में फिसल जाते हैं । लेकिन घाव वैसा ही रिसता रहता है । भाग-भाग कर इतना किया, और अन्त में बच्चों के मन में यह मलीनता ? जो रूपा को लगता है वह कल नीता को भी लग सकता है ? मां-बेटी के रिश्ते में ऐसी एकाध दरार का अंगीभूत होना आवश्यक है क्या ?

सब सुनकर विश्वास ने कहा था, "भूल जाओ, मन को मत लगने दो ये बातें लेकिन इससे जो बोध मिल सकता है वह अवश्य ले लो ।"

अपने ही बच्चे, उनसे विलक्षण प्रेम ! इसलिए ऐसी बातें मन में रहती ही नहीं । फिर भी इन्हें एकदम ही भूलना भी संभव नहीं, कभी-कभी याद आ ही जाती हैं और फिर गहराई में जड़ पकड़ा हुआ भी उखड़ा-उखड़ा-सा लगने लगता है ।

बाद के कुछ महीने सुमित्रा इसी उखड़ी हुई अवस्था में जी रही थी । उसकी आंखों के सामने से सारा भूतकाल गुज़र जाता था । शुरू से गृहस्थी में रम गयी थी । तनाव, दूरियां वगैरह थोड़ी देर के थे । घर का बंधन नहीं चाहिए यह इच्छा भी क्षणिक ही रहती । दूसरे गांव जाने पर चैन नहीं पड़ता था । बच्चे घर में नहीं होते तो घर खाने को आता था । कभी न कभी वे अपने से दूर होंगे, इस विचार से ही आंखें भर-भर आती थीं । इतनी सम्पूर्णता से गुंथी जाने के बाद, मान लो छोटी-मोटी लड़ाई; झगड़े हुए भी तो क्या मतलब रखते हैं ? उनके कारण 'लागी' छूट नहीं सकती । यह शरीर की नस-नस में समायी रहती है । अन्दर बहने वाले खून की वजह से हमेशा प्रफुल्लित रहती है । इनसे जीवन की सीमा रेखा निश्चित होती है । निर्माण का भी एक आनन्द होता है । एक दृष्टि से सुखी संसार भी एक प्रकार की निर्मिति ही तो है । इस सफलता प्राप्ति की कोशिश में कितनी ही ठोकरें लगीं, आगे बढ़ने का बिल्कुल भी उल्लास नहीं था फिर भी क्या हुआ ? कभी-न-कभी तो मंजिल आती ही है न ? रूपा के विवाह के बाद कुछ इसी तरह का महसूस हुआ था···मैं पहुंच गयी थी वहां, अंतिम छोर दिखायी देने लगा । अब आराम से बैठने के लिए बहुत समय है···अभी संध्या काल नहीं आया है···

रूपा के शब्द सुनकर एकदम से अन्धरा घिर आने-सा महसूस हुआ। किसलिए इतनी उलझ गयी थी? इतने सबके लिए 'इन्टरफियरन्स' जैसा शब्द! वह शब्द कानों में से किसी तरह से जा ही नहीं रहा था···नीता, उन्मेष को भी ऐसा ही लगेगा? अगर यही बात है तो समय रहते दूर होने में ही मजा है। पहले भी दो-एक बार मौका आया था, वह छोड़ दिया था। बच्चों के चारों ओर की नाल फेरे छुड़ाकर अपने ही चारों ओर लपेटते रही थी। अब यह बंद करना चाहिए। यह काम कितना भी कष्टकर क्यों न हो, एक बार निश्चय कर लेने के बाद क्या असम्भव है?

सौभाग्य से फिर एक मौका हाथ लगा। तबादला हुआ। इस बार इनकार नहीं किया। थोड़ा समय अवश्य मांग लिया। समेटने के लिए और मन को आदत डालने के लिए।

···हो गयी आदत? यहां आकर सिर्फ एक दिन बीता है। खुला-खुला तथा हलका-फुलका-सा लग रहा है। पर कल भी ऐसा लगेगा? मन रमेगा? या फिर, दूसरे किसी कारण-वश कुढ़ता रहेगा? कुछ तय नहीं कर पा रही थी।

उतना कठिन नहीं लगा। पहले दिन महसूस हुई प्रसन्नता बाद में एकदम ही अस्त नहीं हो गई। वह मन ही मन रेंगती रही। इस प्रकार के जीवन का भी एक स्वाद है। रूपा ने इस तरह अपमानजनक नहीं कहा होता तो यह स्वाद अपने को चखने को ही नहीं मिलता! हुआ सो ठीक हुआ। इस तरह का एकाध घाव लगना आवश्यक है। यह घाव जब पड़ता है तब दर्द जरूर होता है लेकिन बाद में अच्छा लगता है। अंगों में सहन करने की शक्ति आती है और थोड़ी-सी निडरता भी। नहीं तो मेरा यहां आना भला कहां सम्भव था? लाइलाज से यहां नहीं आयी बल्कि अपनी खुशी से आयी हूं। पन्द्रह दिन बीत गये, अपना लिया निर्णय गलत था, ऐसा लगा नहीं आज तक। अर्थात कुल मिलाकर सब ठीक है। तीन-चार दिनों बाद विश्वास आयेंगे ही। उन्हें भी अच्छा लगेगा।

देखते-देखते विश्वास के आने का दिन आ गया। वह उन्हें लेने स्टेशन गयी थी। यह जगह देखकर वह भी खुश हुए।

"सुन्दर है यहां का सब! मुझे भी अपनी ट्रांसफर यहां करवाने का मन होने लगा है।"

"सचमुच, आओगे?" सुमित्रा ने उत्साह से पूछा।

विश्वास हंस दिये। वह क्यों हंसे, वह समझ गयी। स्वच्छंदता, स्वतन्त्रता के लिए मैं यहां आयी हूं। एक प्रयोग कर देखने का भी उद्देश्य है। उसमें सफलता मिलने की भावना ठगाने वाली तो नहीं है न? पाश नहीं चाहिए, ऐसा लगता है लेकिन कितने दिनों तक? किसलिए यह सारा प्रमाद? सीधे घर चले जाना और जो चल रहा था, उसे आगे जारी रखना·· लेकिन एकदम से रूपा की याद आकर···अपमानित-सी महसूस करती अपने आपको। नहीं, ऐसा बिना किसी अवरोध के लिया निर्णय नहीं बदलूंगी। चुनौती, द्वेष आदि कुछ नहीं। अपने को भी आदत होनी चाहिए इसलिए। जो हुआ सब सरलता से हो गया है, अब इस तरह का क्लेश करने की जरूरत नहीं है। बच्चों को तो अपने मन में इतने तूफान उठ रहे हैं और इतनी उथल-पुथल मची है इसका जरा भी अंदाज़ा नहीं होगा। इस तूफान के शांत होने तक राह देखनी चाहिए।

इतनी जिद से सब निश्चित करने के बाद भी, विश्वास के लौट जाने पर सुमित्रा का मन बेचैन ही रहा।

समय काटने के लिए वह वीणा ताई के घर जा बैठी। विश्वास और बच्चों के बारे में बताने लगी। वीणा ताई सुनती रही, बीच-बीच में प्रश्न भी पूछ रही थी। दोनों के संभाषण में

रंगत आ गयी थी तभी वीणा ताई को याद आया—

"अरे हां, आपको बताना भूल ही गयी, परसों आपके यहां एक वृद्ध महिला आई थीं।"

"मेरे यहां ?"

"हां, आजकल में फिर से आयेंगी शायद। कहकर गयी हैं।"

सुमित्रा को आश्चर्य हुआ, कौन रहा होगा ? मेरा यहां आना अभी किसी को ठीक से पता भी नहीं होगा। आते समय मां को जल्दी में एक पत्र डाल दिया था बस।

उसे बहुत देर तक सोचना नहीं पड़ा। वे वृद्ध महिला सामने आकर खड़ी हो गईं और सारा खुलासा हो गया।

"अरे चाची, तुम ?" वह आश्चर्य से बोल पड़ी।

चाची के चेहरे पर खिसियाना भाव था, जिसे देखकर उसे बुरा लगा। पुराना सब याद आ गया। एक बोझ बना जीवन। कोई कुछ भी बोल देता। सिर्फ मां समझदारी दिखाती। वह भी कई बार चिढ़ जाती और सब लोग उसे ही सुनाते, "इतना क्यों करती हो ? उनकी किस्मत और वे, हरेक का करने का बीड़ा हमने ही थोड़े उठाया है ?" विवाह के बाद सुमित्रा धीरे-धीरे सब भूलती गयी। इन दिनों तो उसने अपने पीहर वालों से सम्बन्ध, लगभग तोड़ ही दिये थे। कितने साल बीत गये चाची को देखे ? बहुत सारे। बहुत थक गयी है। पहले का मोटा-ताज़ा शरीर अब सिकुड़ गया है···लेकिन ये यहां कैसे ?

"मेरा भानजा रहता है यहां। सोचा चार दिन के लिए हो आना चाहिए। साथ भी मिल गया।"

चाची के दिये जवाब से सुमित्रा को संतोष नहीं हुआ। उसे पता था बात इतनी सीधी नहीं रही होगी। हो सकता है घर में झगड़ा हुआ हो और क्रोध में आकर इन्होंने घर छोड़ दिया हो। किसी ने रोका भी नहीं होगा। भानजा चार दिन का, आगे क्या ? वापिस लौट जायेगी और उसी तरह कुढ़ते हुए मरमर करती रहेगी।

"तुम्हें, मैं यहां हूं, यह कैसे पता चला ?"

"तेरी मां ने बताया। कहा, जाकर घर देख आओ। सुन्दर है री घर तेरा। अकेली ही रहती है शायद ?"

"हां, बदली हो गयी अचानक। सभी के अपने-अपने काम-धंधे। काम-धंधे छोड़कर मेरे साथ कौन आता ? बीच-बीच में वे आते रहेंगे, कभी-कभी मैं चली जाऊंगी।"

"काम-धंधे होना ही ठीक रहता है बहना, नहीं तो हम···, सारी जिंदगी बेकार गयी···।"

सुमित्रा चौंक उठी। चाची के मुंह से इस तरह के एकाध भी वाक्य की अपेक्षा उसने नहीं की थी। वे इस तरह से सोचती भी होंगी ? इस दुनिया में अपना कोई नहीं, यह सोच-सोच कर दुखी होती होंगी ? मैंने तो इस तरह से कभी सोचा ही नहीं, इस विचार से सुमित्रा के मन में अपराध की भावना जाग्रत हुई। हम लोग सिर्फ अपनी स्वतन्त्रता की इतनी कदर करते हैं। दूसरों को भी वह चाहिए यह बात कभी हमारे दिमाग में ही नहीं आती। सुमित्रा के मन में कई विचार कौंध गये।

क्या हो सकता है चाची ? हरेक की ज़िंदगी, इस तरह जरा-जरा बेकार जाती ही है। अपने हाथ में कुछ नहीं रह जाता। अच्छा, वह सब छोड़ो। तुम अब आराम से बैठो बालकनी से बहुत सुन्दर दृश्य दिखता है। तब तक मैं चाय बना कर लाती हूं।"

"मैं बनाती हूं चाय···मुझे बता दे सब। खाने के लिए कुछ बनाऊं? चीले बहुत पसंद थे तुझे, बना दूं?" चाची मानो अंगुली पकड़कर उसे बचपन की ओर ले गयी थी। उसे याद आया, उन दिनों भी वह इन्हीं के इर्द-गिर्द रहती, शौक से इनकी मदद करती। इनके साथ मंदिर जाती···स्कूल में जो भी होता, इन्हें बताती। यह कब रुक गया? अंतर कब पैदा हुआ? वह अंतर बढ़ता ही चला गया। हरेक के साथ यही होता है क्या? पहले खुद को दूसरों से अलग करना और फिर अकेले हो जाना। रूपा ने भी इसी तरह···

सुमित्रा ने इस विचार को वहीं रोक दिया। उसमें डूबना नहीं था। उसका कोई फायदा भी नहीं था। "चीले बाद में बनायेंगे, पहले चाय तो लो।"

"अच्छा बाबा! अपना कहा ही करेगी तू! बचपन में भी एकदम ऐसी ही थी।"

चाय में बिस्किट भिगोकर उसका गोला बनाकर खाने वाली चाची की ओर देखकर उसका मन करुणा से भीग गया।

"आगे क्या इरादा है, चाची?"

"इरादा क्या होगा? रहूंगी कुछ दिन और वापस लौट जाऊंगी। नहीं भी गयी तो कोई राह देखने वाला नहीं। आगा न पीछा। कोई 'जा' भी नहीं कहता और 'आ' भी नहीं कहता।"

"मैं कहती हूं न! आई हो तो रहो मेरे यहां कुछ दिन।"

"अच्छा!" चाची के स्वर में की खुशी उसकी समझ में आ रही थी। उन्होंने जल्दी-जल्दी चाय खत्म की और कप-प्लेट धोने के लिए बेसीन के पास जा खड़ी हुईं। मानो अपने घर में ही घूम फिर रही हों।

उनकी ओर देखते हुए सुमित्रा विचार करती रही? मैंने उन्हें रहने के लिए क्यों कहा? अंतर इतनी जल्दी कैसे पट गया? कुछ दिन याने कितने दिन?

उसे उत्तर पता नहीं था। मात्र इतना वह समझ गयी कि, निश्चित कुछ भी नहीं होता। ज़िंदगी अपने आप मोड़ लेती रहती है। कुछ पुराने बंधन टूट जाते हैं और कुछ नयों का निर्माण होता है। कुछ चाहिए होते हैं और कुछ नहीं···!

यह बात यदि सच है तो फिर "मैं यहां क्यों आयी हूं?"

इस प्रश्न का उत्तर भी उसके पास नहीं था। झूला झूल ही रहा था। ऊपर···नीचे··· इस पल वह नीचे ही था।

अनु०—कांता पलसाने

लेख

बेहतर दुनिया के लिए, कोई मेरे साथ चले

☐ डॉ० राजकुमार

बौद्धिकता के विकास के साथ-साथ जब शब्द का अर्थ बाह्य जगत में ढूंढा जाने लगा या बाह्यजगत से उद्‌भूत अर्थ को नये-नये शब्द दिए जाने लगे और भाषा प्रयोजनवती होती गई तो आदिमकाल से चला आ रहा शब्द-अर्थ एकत्व भंग हुआ, यानी शब्द और अर्थ अलग इकाइयां बन गए। आदिमकाल में शब्द अर्थ अभिन्न थे, जो शब्द था वही उसका अर्थ था। शब्द का अर्थ शब्द से बाहर नहीं था। शब्द बराबर ताकत से बाह्य और अन्तर्जगत को जोड़े हुए थे—अद्वैत रूप में।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य के प्रयोजन के क्षेत्र में विकास हुआ, मनुष्य बाह्य-जगत की ओर बढ़ा, अन्तर्गत पीछे छूटता गया। भाषा प्रयोजनवती होती गई और बाह्य जगत की ओर बढ़ती गई। बाह्य जगत ऐन्द्रियानुभूति है। ऐन्द्रियानुभूति के आधार पर ही शब्द ऐन्द्रिय बिम्ब के रूप में विकसित हुए हैं। ये ऐन्द्रिय बिम्ब सामान्य मनुष्यों में सामान्य रूप से अनुभूत होते हैं और सामूहिक समझौते के रूप में सम्प्रेषण का आधार बनते हैं। यही ऐन्द्रिय बिम्ब किसी अर्थ (जो सामूहिक समझौते के कारण समूह के प्रत्येक व्यक्ति को मान्य है) के प्रतीक या संकेत रूप में शब्द बन जाते हैं। मनुष्य-मनुष्य, मनुष्य-प्रकृति के बीच के कार्य-सम्बन्धों को व्यक्त करने के लिए इन शब्दों को किसी अनुशासन (व्याकरण) में जोड़ा जाता है और भाषा का विकास होता जाता है। जैसे-जैसे शब्द यानी ऐन्द्रिय बिम्ब बाह्यजगत निरूपण की ओर बढ़ा है, उसका अन्तर्जगत की ओर का विकास या अन्तर्जगत से उसका जुड़ाव संकुचित होता गया है।

बाह्य जगत के परस्पर सम्बन्धों को समझने के लिए प्रयोजनवती भाषा धीरे-धीरे विकसित हुई है और अभिव्यक्ति का साधन बनी। जबकि ऐन्द्रियानुभूति से परे अन्तर्जगत कैसे अभिव्यस्त हो, यह समस्या सदा से बनी रही। इस समस्या को झुठलाया नहीं जा सकता। क्योंकि मानव-जीवन में जितना बाह्यजगत सत्य है, उतना ही अन्तर्जगत भी। बाह्यजगत तो मानक ऐन्द्रिय बिम्बों (शब्द-प्रतीकों) द्वारा प्रेषित हो जाता है परन्तु समस्या आती है अन्तर्जगत के प्रेषण की। जो ऐन्द्रियानुभूत नहीं अर्थात चाक्षुष, घ्राण्य, श्रोत्रिय, स्पर्श्य, स्वाद्यबिम्बों में अभिव्यक्त नहीं हो पाता। इस अलौकिक, अघ्राण्य, अस्पर्श्य, अस्वाद्य, अश्रव्य अन्तजर्गत को

कैसे अभिव्यक्त करें; इससे बचा तो कदापि नहीं जा सकता क्योंकि काव्यशास्त्रियों ने इन्हें भाव कहा है जो सत्वोद्रेक पैदा करते हैं, आनंदित करते हैं। मनुष्य को पसीना आता है, हंसी आती है, गुस्सा आता है, भय लगता है, काम सताता है, प्यार आता है इसी तरह के अनेक भाव व्यक्ति के अन्तर्जगत में उदित होते रहते हैं। अन्तर्जगत के ये भाव अमूर्त हैं क्योंकि बाह्यजगत की प्रयोजनवती भाषा इन्हें अभिव्यक्त नहीं कर पाती। परन्तु इन अमूर्त भावों की अभिव्यक्ति अपरिहार्य है क्योंकि मानव-मानस जितना बाह्यमुखी होता है उतना ही अन्तर्मुखी भी। प्रयोजनवती भाषा ही गद्य की भाषा है जो अर्थप्रधान है भावप्रधान नहीं, अतः यह भाषा भाव को व्यक्त नहीं कर पाती। जब भाव की अर्थात अन्तर्जगत की अभिव्यक्ति अपरिहार्य हो उठती है तो ऐन्द्रिय बिम्बों का ही सहारा लेना पड़ता है, अन्तर्जगत के भाव को ऐन्द्रिय बिम्ब में अनूदित करना पड़ता है, इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं। भाषा में भाववाचक संज्ञा शब्द इसी अपरिहार्य आवश्यकता की देन हैं। सुन्दर, मीठा आदि विशेषण शब्दों, ऐन्द्रिय बिम्बों से सौन्दर्य, मिठास आदि शब्द भाव के बिम्ब ही हैं जो असत्य होते हुए भी सत्य हैं।

कविता बाह्यजगत और अन्तर्जगत के बीच संधि स्थापित करती है। कविता में ऐन्द्रिय बिम्ब, अन्योक्ति, रूपक, प्रतीक, फैंटेसी, अलंकार आदि इन्हीं अमूर्त-अप्रस्तुत भावों का मूर्तीकरण या प्रस्तुतीकरण तो है परन्तु कभी भी पूर्ण और तर्कसम्मत नहीं हो पाता। कविता में अभिधा की अपेक्षा शब्द की लक्षणा और व्यंजना शक्तियां इसी कारण प्रमुख हो उठती हैं। इसी आधार पर काव्य-भाषा और गद्य-भाषा में अन्तर बना रहता है।

आधुनिक काल में द्विवेदी युग तक की हिन्दी कविता बाह्यमुखी है यानी इस काल की कविता वस्तुजगत की ओर बढ़ी है, इसी कारण इस कविता की भाषा भी प्रयोजनवती (गद्य-भाषा) ही रही है। इस कविता में अन्तर्जगत अनछुआ रहा है, भावाभिव्यक्ति की ओर से कवि ने आंखें मूंदे रखी हैं, जिससे आंतरिक जगत की लय, ताल, गति, यति, छन्द और सरसता (जो भावों को ऐन्द्रिय बिम्बों में अनूदित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है) का अभाव खलता है और कविता अन्तर्जगत और बाह्यजगत के बीच पूरक कड़ी का रूप नहीं अख्तियार कर पाती।

छायावादी कवियों ने हिन्दी कविता की इस क्षीणता को अनुभव किया। उन्होंने ही पहले-पहल बाह्यमुखी प्रवृत्ति की अपेक्षा अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की ओर अपना झुकाव प्रकट किया, जिसे अक्सर आलोचकों ने पलायन वृत्ति कहा। मुझे तो उन पर यह आरोप उचित प्रतीत नहीं होता। उन्हें बाह्यजगत की प्रयोजनवती भाषा अपूर्ण प्रतीत हुई, भावों को ऐन्द्रिय बिम्बों में अनूदित करने के लिए प्रयोजनवती भाषा से पूरक शब्दों का चयन करना पड़ा, उन्हें अपने अनुकूल ढालना पड़ा। इससे भाषा को नया संस्कार मिला, द्विवेदी युगीन काव्यतर्क जो बौद्धिकता प्रधान (बाह्यजगत के तालमेल की चिंता से प्रसूत) था, भाव-प्रधान हो उठा, यानी छायावादी कविता में पहली बार काव्य का तर्क बदला। अन्तर्जगत जो अब तक अनछुआ रह गया था, छायावादी कविता में मूर्त होने लगा। परन्तु अन्तर्जगत अलौकिक, अश्रव्य, अघ्राण्य, अस्पर्श्य, अस्वाद्य है यानी ऐन्द्रियानुभूति से परे की चीज़ है, रूपकों, अन्योक्तियों द्वारा अभिव्यक्त होता है, इसीलिए छायावादी कवियों ने अलौकिक सूक्ष्म की इस सत्ता को अपनी सांस्कृतिक धरोहर (ईश्वर-आत्मा) के रूप में अनूदित कर लिया। इसी सांस्कृतिक धरोहर के कारण इन कवियों को छायावादी (?) और रहस्यवादी (?) कहा गया है। वस्तुतः वे आंतरिक भावों को रूपायित करने के लिए प्रयोजनवती भाषा का अनुकूलन न कर उपयोग कर रहे थे, इसी कारण उनकी

कविता में इस गुण या दोष को मढ़ा गया।

प्रयोगवादी कविता में स्पष्टत: दो ध्रुव उठ खड़े होते हैं विराट (ईश्वर—अलौकिक ?) का नकार और साधारण (आत्मा—लघु मानव ?) का स्वीकार। इसी तर्ज पर आत्मा और देह का संतुलित स्वीकार, बाह्य जगत और अन्तर्जगत का बराबर स्वीकार। प्रयोगवाद से पूर्व प्रगतिवादी कविता ने पहले पहल ईश्वर की अलौकिक सत्ता को नकार कर बाह्यजगत को प्रमुखता दी थी। प्रयोगवादियों ने दोनों अतिरेकों के बीच संतुलन स्थापित किया। बल्कि प्रयोग-वादियों ने स्पष्ट कहा कि भाषा (प्रयोजनवती होकर) अपना अर्थ खो चुकी है। शब्द का नव्य संस्कार आवश्यक हो गया है, पुराने उपमान मैले हो गए हैं, पुराने छंद अन्तर्जगत और बाह्य-जगत की अपेक्षित अभिव्यक्ति में बाधक हो रहे हैं, पुराने प्रतीक अपनी अर्थवता गंवा चुके हैं, कुल मिलाकर कहें तो यही कि काव्यभाषा का नवविकास जरूरी हो गया है ताकि कविता को एकांगी होने के दोष से बचाया जा सके, उसे अन्तर्जगत और बाह्यजगत से बराबर कोशिश से जोड़ा जा सके। अत: प्रयोगवादी कविता अलौकिक ईश्वर को भूलकर अन्तर्जगत के भावों का ऐन्द्रिय बिम्बों में अनुवाद करने की ओर बढ़ी यानी कविता अनुभूति के अनुवाद की ओर बढ़ी। परन्तु प्रयोगवादी कविता में एक दोष फिर बना रह गया, वह दोष है—घोर व्यक्तिवादी शैल्पिक आग्रह। इस आग्रहातिरेक के कारण कविता में असम्प्रेषणीयता को बढ़ावा मिला। प्रयोगवादी कविता की आत्मवादी वृत्ति धीरे धीरे बिम्बवादी, प्रतीकवादी और रूपवादी हो गई और बाह्यजगत को पीछे छोड़ गई। कविता पुन: एकांगीपन के दोष से ग्रस्त हुई। तदुपरांत अनेक काव्यांदोलन चले जो १९६९ ई० के बाद ही समकालीन कविता के रूप पर्यवस्त हो सके। मुझे तो लगता है यही कविता सार्थक कविता है, सार्थक इस अर्थ में कि वह व्यक्ति के बाह्य-जगत और अन्तर्जगत के बीच कड़ी के रूप में रूपायित हो रही है।

समकालीन कविता अधिकतर बाह्यजगत की कविता रही है। द्वन्द्वमय जगत के कारण बाह्य यथार्थ भी विसंगत, विद्रूप, दुरूहताग्रस्त, विकारग्रस्त, जटिल है जिसे कविता के माध्यम से संगत, सुरूप, सरल, पुष्टाकार बनाने का यत्न किया जाता रहा है। बाह्यजगत को बाह्य-जगत के उपकरणों के परस्पर सम्बन्धों में देखने की कोशिश बाह्यमुखी कवि करता है परन्तु अन्तर्मुखी कवि अपने भावजगत यानी अन्तर्जगत का तालमेल बाह्यजगत से बिठाने का यत्न करता है। अन्तर्जगत और बाह्यजगत में असंगति दोष के कारण सामाजिक आचरण बरक्स व्यक्ति आचरण, करनी बरक्स कथनी में दिन-प्रति-दिन खाई बढ़ती जा रही है। यह असंगति दोष जीवन के सभी आयामों, ज्ञान के सभी अनुशासनों में किसी न किसी रूप में मौजूद है और चिन्त्य है। समकालीन कवि का स्वर स्वीकारात्मक न होकर निषेधात्मक अधिक है, वह अधिकाधिक विसंगतियों और विद्रूपताओं को पाठक के समक्ष लाता है और कविता का रूपायन करता चलता है।

प्रस्तुत आलेख के दोनों कवि समकालीन कविता के समर्थ कवि हैं और इसके गुण-दोष से जुड़े हुए हैं। परन्तु १९८५ में प्रकाशित इनके काव्य-संग्रहों 'बेहतर दुनिया के लिए' और 'कोई मेरे साथ चले' में एक नयी प्रवृत्ति चित्रित होने लगी है, उसी प्रवृत्ति का लेखा-जोखा करना हमारा मूल मन्तव्य है, वह प्रवृत्ति है—बाह्यजगत की अभिव्यक्ति की अपेक्षा अन्तर्गत की अभिव्यक्ति की ओर बढ़ना। उपर्युक्त काव्य संग्रहों में अनेक सफल कविताएं हैं जो बाह्य-जगत और अन्तर्जगत के बीच पुल स्थापित किए हुए हैं। यहां मैं ऐसी ही कविताओं की समीक्षा का यत्न कर रहा हूं।

बेहतर दुनिया के लिए :

बाह्यजगत की भाषा के माध्यम से अन्तर्जगत पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं हो पाता, कुछ न कुछ छूट जाता है। पूर्णता की ललक के कारण ही नया-नया रचना पड़ता है। इसी पूर्णता की खोज में बुद्धिवादी कवि भी आन्तरिक भाषा की ओर लौटे हैं और मिथ्याभासों को उपस्थित करते हैं। प्रस्तुत कवि ने मौजूदा व्यवस्था में आतंकित, बांझपन से ग्रस्त, अन्तःविभाजन की प्रक्रिया में पड़े आदमी के लय-तालहीन जीवन का चित्रण बड़ी सुन्दरता से किया है। 'आरा मशीन' कविता में आरा मशीन इसी दांतदार व्यवस्था का प्रतीक है जो आदमी को चीथ रही है। प्रस्तुत पंक्तियों में कवि का अन्तर्जगत बाह्यजगत की ध्वनियों, धमक और प्राकृतिक परिवेश में गुंथ-सा गया है।

"दौड़े आ रहे हैं। अगल-बगल के यूक्लिप्टस/और हिमाचल के देवदारु/उसके (आरा-मशीन के) आतंक में खिंचे हुए। दूर-दूर अमराइयों में/पक्षियों का संगीत गायब हो गया है। गुठलियां बांझ हो गयी हैं/उसकी आवाज से।"

पेड़ चाहे यूक्लिप्टस का हो चाहे देवदारु या आम का, मानवी जीवन का आद्यप्रतीक है। पेड़ कट रहे हैं, उपभोगवादी सभ्यता और पूंजीवादी व्यवस्था की मिलीभगत चल रही है। पेड़ आरा मशीन की दांतदार धार से चिथ रहे हैं, और व्यक्ति का अन्तर्जगत—उसकी भावनाएं, संस्कार, प्रतिभा, वर्चस्व यानी आदमियत—बाह्यजगत से विसंगत होता जा रहा है। देखें कितना विसंगत है यह यथार्थ—

"अभी वह मेरे सीने से गुजरेगी। मेरे भीतर से एक कुर्सी निकालेगी। राजा के बैठने के लिए। राजा बैठेगा सिंहासन पर/और वन-महोत्सव मनाएगा।"

राजा मानव-मात्र को अपने विशेषाधिकार की मांग पर न्योछावर कर रहा है। अपनी इच्छा के विपरीत या विसंगत पड़ रहे मानव को काटपीट की अपनी कसौटी में आंक रहा है—

"आदमी बड़ा था और कसौटियां छोटी। इस पर वे झुंझलाते थे/और आदमी को रगड़-रगड़कर छोटा करते जाते थे।"

आदमी को कैसे रगड़ा जाए? यह काव्यभाषा में ही संभव है, गद्यभाषा में नहीं। ऐसे स्थलों पर ही गद्य भाषा अपूर्ण तथा असंगत होकर रह जाती है। कवि को लगता है कि वह अपनी भाषा को भूलने लगा है। भाषा उसके अन्तर्जगत को व्यक्त नहीं कर पाती—

"मैं भूलने लगा था अपनी भाषा/जो मेरी मां थी/और मेरी मां है।

उपर्युक्त पंक्तियों में अन्तर्जगत पर बाह्यजगत का जो दबाव पड़ता है वह मिथक और मिथ्याभासों को जन्म देता है, जिससे बाह्यजगत के बिम्ब अन्तर्जगत को प्रेरित करने लगते हैं। संवेदन की लहर मानवीकरण के लिए प्रेरित कर जाती है—

"तुमने धरती का सिसकना सुना नहीं पिता/उसका कांपना नहीं पहचाना/अब इस ज्वालामुखी को सहो/आकांक्षाओं की गंगा धड़क रही थी। हिमालय से उतरकर/तुमने उसे बांधने की कोशिश की पिता/अब इस विद्युत प्रवाह में बहो।"

उपर्युक्त पंक्तियों में बाह्य यथार्थ का दबाव अन्तर्जगत पर पड़ा है और अन्तर्जगत की प्रतिक्रिया मिथकीयाकांक्षा के रूप में प्रतिफलित हो उठी है। जब बाह्य यथार्थ मिथकआकांक्षा के लिए विवश करता है तो कवि प्रतीक कथाओं, लोककथाओं की ओर बढ़ता है। ऐसी कविता की अभिधा शक्ति का महत्त्व उतना नहीं रह जाता जितना व्यंजना या लक्षणा का—

"उन्होंने इन पौधों और फूलों को तब काटा। जब इनमें नयी-नयी कोंपलें निकल रही

थीं। उन्हें भय था। इनसे खुशबू और छाया फैलेगी।''

प्रतीककथाएं अक्सर अप्रस्तुत को ऐन्द्रियविम्वों में अनूदित करके प्रस्तुत करती हैं। प्रकृति का मानवीकरण, रूपकीकरण, प्रतीकीकरण और बिम्बीकरण इन्हीं अप्रस्तुत भावों (अन्तर्जगत) को प्रस्तुत करने के लिए किया जाता रहा है। जब भी अन्तर्जगत आन्दोलित होता है बाह्यजगत का यथार्थ विलीन हो जाता है और आद्यबिम्बों की बौछार पड़ने लगती है जिसमें धुल-धुलकर प्रकृति के उपकरणों के नये-नये अर्थ, नये-नये कार्य-कलाप जीवित हो उठते हैं। जैसे—

> ''गड़गड़ा रहे हैं बादल/घिर रहे हैं/ पहाड़ों को, पेड़ों को। घेर रहे हैं बादल/·· खूंखार हो गया है आसमान। तुम्हारी नदी बेचैन हो रही है। अपनी नाव संभाल बैरागी। चारों ओर हो गया है अंधेरा। हवा झपट्टे मार रही है। अपनी झोंपड़ी बचा बैरागी।'' (पृ० ३३)

इन आद्यबिम्बों का अनुवाद करके मैं इनके सौंदर्य का नाश नहीं करूंगा। मात्र यह कहूंगा कि शब्द की अभिधा शक्ति की अपेक्षा प्रतीक-व्यंजना, लक्षणा-शक्ति को अवश्य ध्यान में रखा जाए।

भारतीय संस्कृति में हंस आत्मा का प्रतीक है। अन्तर्मुखी होकर ही व्यक्ति आत्मा को पहचान सकता है। आत्मा भी निरासक्त होकर निर्वेद की स्थिति में पहुंचकर अलौकिक सत्ता का साक्षात्कार कर सकती है। इसी तरह के विचार प्राचीन साधक कवियों ने व्यक्त किए हैं और निरासक्त होने के उपदेश दिए हैं। हो सकता है अन्तर्मुखी होने से अन्तर्मन और अन्तर्जगत की धार तीखी होती हो, बाह्य संघर्षों के खिलाफ व्यक्ति भीतर ही भीतर शक्ति समेटता हो— कुछ ऐसे ही विचार निम्नलिखित पंक्तियों में निहित हैं—

> ''तू अपने में सिमट जा,/और सिमट जा हंसा. मोटे थुलथुल
> मांसखोर गिद्ध/चीख रहे हैं, तुम्हारे विरुद्ध/तू अकेला/और अकेला हो जा हंसा।''

मुझे हंसा के अकेला होने के प्रति चिंता है, क्या यह आत्मघाती पलायन नहीं? इससे क्या होगा? हिंसक गिद्धों के खिलाफ अकेले हंस की पराजय! लेकिन कवि समझता है कि एक-न-एक दिन हंस की खामोशी जरूर बोलेगी, जिस दिन बोलेगी, हंस अकेला नहीं रह जाएगा, अनेक हंस उससे आ मिलेंगे। परन्तु इस अन-अकेलेपन का लाभ?—मात्र सामूहिक आत्महत्या। कवि आत्मा के प्रस्तुत आद्य-प्रतीक का निर्वाह कर सकता था। परन्तु गिद्ध जैसे खूंखार आद्य-प्रतीक के बरक्स नहीं। अतः प्रस्तुत कविता में आद्य-प्रतीक और आद्यबिम्बों का उपयोग सांस्कृतिक चेतना के विपरीत चला जाता है अतः अग्राह्य है।

उपभोगवादी सभ्यता और बाह्यजगत के अन्तर्जगत से विसंगत हो उठने के कारण हमारी आदिम श्रद्धा के स्रोत धीरे-धीरे सूखते जा रहे हैं, ग्रामीण संस्कार मरते जा रहे हैं। आधुनिक सभ्यता की इस सोखन शक्ति के खिलाफ जेहाद छेड़ने की जरूरत है— जो प्रयोजनवती भाषा के माध्यम से कठिन है। भाव-प्रेषण के संदर्भ में भाषा दिन-प्रतिदिन गूंगी, बहरी और असम्प्रेषणीय होती जा रही है। लोग निजी स्वार्थ की आड़ में आकर भी भाषा को नकार रहे हैं, कहा हुआ अनसुना, अनसमझा छोड़ा जा रहा है—

> ''वे उस आदमी की भाषा नहीं समझते थे। जो उन्हें खरीदता है।
> बांधता है/दूहता है/और खूंटे से कसाईखाने तक/सुरक्षित पहुंचा देता है/
> वे कुछ कहना चाहते थे/पर उनके भाषा न थी।''

यह ठीक है कि मौजूदा भोगवादी सभ्यता ने व्यक्ति को बेहया, ढीठ और मक्कार बनाया

है, परन्तु यह भी सत्य है कि इसने उसकी जिजीविषा को भी दोवाला किया है। प्रस्तुत कवि ने वेहया किसी खास झाड़ी या बेल को कहा है। झाड़ी, बेल, पेड़ यानी आदमी का प्रतीक, आदमी की जननशीलता का प्रतीक, उसकी जिजीविषा का प्रतीक। पंक्तियां देखें --

"बेहया/अर्थात कहीं से उखाड़ लो उसे/कहीं से तोड़ दो/फेंक दो
कहीं भी मिट्टी में वह फिर मुस्कराने लगेगा।"

नयी कविता में चित्रित मृत्युबोध आनन्दवादी भारतीय संस्कृति के खिलाफ जाता है। परन्तु अस्तित्ववाद से प्रभावित हिन्दी कवियों ने अपने ही ढंग से मृत्युबोध से जूझने की कोशिश की है। यदि जिजीविषा आद्यवृत्ति है तो मृत्यु भी आद्य भय है। जीवन की मिठास को मृत्यु की कड़वाहट के बरक्स रखकर ही पहचाना जा सकता है। परन्तु सत्य यह है कि ये दोनों वृत्तियां वाह्यजगत की अपेक्षा अन्तर्जगत की अमूर्त वृत्तियां हैं। जिनका ऐन्द्रियबिम्बों में अनुवाद कठिन है लेकिन है अपरिहार्य। काव्य-भाषा जीवन और मृत्यु को ऐन्द्रिय बिम्बों में बांधने का यत्न करती रही है, प्राचीन कवियों ने परिवर्तनशील प्रकृति में जीवन-मृत्यु को आलिंगनबद्ध देखा है परन्तु प्रस्तुत समकालीन कवि नारी स्पर्श, नदी स्पर्श की अनुभूति में जीवन-मृत्यु को आलिंगनबद्ध देखता है—

"तुम्हारी त्वचा के स्पर्श के साथ। सृष्टि की आकांक्षाएं निःशेष होती हैं/
...लहरीली तरंगों वाली नदी। तुम्हारे साथ, जिंदगी की चट्टानें पिघलती हैं। मैं उन समुद्रों, जंगलों, क्षितिजों को चूमने लगता हूं। जो मेरी पकड़ के बाहर थे। तुम्हारे आकाश में बादल मुस्कराते हैं। तुम्हारी धरती से संगीत फूटता है, तुम्हारी ढलानों से चीड़ की गंध आती है। बसंत हंसता है सरसों के खेतों में, गण्डक की भीगी रेत पर, मेरे वन्य संस्कार अंगड़ाई लेते हैं। मैं जीना चाहता हूं। और स्वाद लेना चाहता हूं। कड़वी मृत्यु का।"

यह लम्बा काव्य उद्धरण जीवन और मृत्यु को आलिंगनबद्ध तो दिखाता ही है प्रेम या प्रणय जैसे अन्तर्जगत के सत्य को भी उद्घाटित करता है। प्रणय अन्तर्जगत की भाषातीत अनुभूति है जिसे बाह्यजगत की अपूर्ण भाषा में बिम्वित करना कठिन है। जितनी यह अनुभूति भाषातीत है उतना ही कवि आत्म विस्तार कर लेता है, यानी मानव अति मानव हो उठता है, भाषा अतिशयोक्तिपूर्ण हो उठती है यानी काव्य-भाषा आदिम भाषा की ओर बढ़ने लगती है—

"मैंने उसे खींचा, जैसे रेगिस्तान किसी नदी को/खींचता है/उसने अपनी समुद्र-सी बाहें फैलायीं/और घेर लिया समूचे भूमण्डल को।"

प्रणयानुभूति के फैलाव के समक्ष भाषा ओछी पड़ जाती है और कवि आदिम-युग की भाषा की ओर लौटने लगता है और अतिमानव हो उठता है—

चांदनी में सोया हुआ तराई का एक गांव/मेरी हथेलियों पर था/मेरी छाती में एक पहाड़ी झरना धड़क रहा था/वह अछूते द्वीपों की खुशबू थी/...शब्द बहुत पीछे छूट गए थे उस वक्त/केवल ध्वनि थी/जो आंखों के मुस्कराने, या त्वचा और त्वचा के सटने से उत्पन्न होती है।

परन्तु क्या प्यार की अनुभूति को बाह्यजगत के बिम्बों द्वारा कहा जा सकता है? चाहे आदमी अपने भीतर ही झरने महसूस करे, चाहे गांव के गांव हथेलियों पर महसूस करे, लम्हे गुरुत्वाकर्षण के केन्द्र से परे महसूस करे और वायुमण्डल की सीमाओं से पार के आकाश को चुनौतियां दे, फिर भी प्यार की आन्तरिक अनुभूति बिम्बित नहीं हो पाती। कहने का तात्पर्य यह

कि यदि अन्तर्जगत के ये भाव पूर्णतया बिम्बित हो जाएं तो कविता मर ही न जाये। अन्तर्जगत की इन्हीं भाववृत्तियों के आदिम स्रोतों के कारण कविता जीवित है और जीवित रहेगी। मैं यहां भावुकता से ग्रस्त नहीं हूं। मात्र मानव मन की सच्चाई को ही कह रहा हूं।

सच्चाई यह है कि सभ्यता शब्द देती है और शब्द वस्तु के होने के सबूत हैं। व्यक्ति के होने में बाह्यजगत का जितना महत्त्व है उतना ही बल्कि उससे भी अधिक महत्त्व उसके अन्तर्जगत का है। इस अन्तर्जगत को बाह्यजगत से जुड़े अर्थप्रधान शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करना ही कविता है जो एक विराट मौन को तोड़ती है, एक अंधकार से उभारती है, दिक्काल से जूझने के लिए शब्द (कविता) ही हथियार है। परन्तु कविता वहीं मार खाती है जहां वह अन्तर्जगत की सच्चाई को नकारती हुई एकांगी-बाह्यजगत के अनुशासन में आबद्ध होती है, मानव की प्रकृति के खिलाफ बाह्य नैतिकता का जाल बनकर रह जाती है।

प्रस्तुत कवि ने लिखा है—

"मैं विचार कर सकता हूं। मैं भूखा रह सकता हूं। मैं इन्तजार कर सकता हूं। मैं इनकार कर सकता हूं। तानाशाह मैं तुम्हारी परवाह नहीं कर सकता।"

परवाह की भी जाए तो किस आवश्यकता की पूर्ति के लिए? किस द्वन्द्व को रूप देने के लिए? यह प्रश्न गहरा है, जिसका उत्तर विचारक को नहीं तो कवि को तो देना ही होगा? इस प्रश्न के अनुत्तरित रह जाने से तो आदमी का साहस, उसकी जिजीविषा आदिमानव से आधुनिक मानव तक की उसकी विकास यात्रा अर्थहीन होकर रह जाएगी। फिर भी कवि ने इस प्रश्न को अनुत्तरित छोड़ा है और जैविक जरूरतों या अन्तर्जगत को नकारा है। ऐसी कविता युक्ति विरुद्ध भी है, अगतिसूचक भी।

प्राचीन मिथों, लोककथाओं और विजंधरियों और उनके अभिप्रायों को युग-चेतना के अनुरूप ढालने का प्रयास सदा से रहा है। इन कथाओं के मोटिफ्स, मुहावरों और इनके पात्रों के अन्तर्विरोधी स्वभाव का विश्लेषण करने के यत्न भी कवियों ने किए हैं, इन कथाओं के माध्यम से कवि अन्तर्जगत के जटिल और संश्लिष्ट बिम्बों को उधेड़ने की कोशिश करता रहा है जो कहीं-कही सफल हुई है तो कहीं बाह्यजगत से जोड़ बिठाने के आग्रहातिरेक के कारण असफल। और मिथों और लोककथाओं के अभिप्रायों और मुहावरों को धूमिल कर गई है। मिथों और लोककथाओं को कवि लोक से रिश्ता जोड़ने के लिए अपनाता है। क्योंकि आदिम भाषा से जुड़े रहने का लालच उससे छूट नहीं पाता, इसी कारण कविता का तर्क मिथ के तर्क से सट जाता है।

पूंजीवादी युग में आदमी का साहस, श्रमशक्ति ही उसकी पूंजी है, यही उसकी आत्मा भी है, जो उसने स्वयं किसी तोते में नहीं डाल रखी (क्योंकि वह राक्षस नहीं?) बल्कि पूंजी-पतियों ने उसे (उसकी आत्मा को) गहरी दबी तिजौरियों में धकेल दिया है। अब तो आदमी की ज़िंदगी में तसीहे ही रह गए हैं। ऐसे दमघोटू बाह्य यथार्थ को कवि लोककथा के मोटिफ्स के माध्यम से व्यक्त करता है—

"जो एक निर्मल तालाब के भीतर। एक सुन्दर महल में। एक खूबसूरत पिंजरे में कैद है।"

ऐसे विसंगत यथार्थ के बीच यदि कोई अन्तर्मन की जरूरतों को भोग ले तो अचरज होगा ही, साथ ही ऐसे उपभोक्ता के साहस के प्रति ईर्ष्या भी—

"वे दोनों फूल की तरह थरथरा रहे थे। एक छोटे हरसिंगार के नीचे/मैंने उन्हें प्यार करते देखा।"

अतः अन्तर्जगत की प्राकृत जरूरतों की अभिव्यक्ति के लिए बाह्यजगत के संघर्ष का वहन करती हुई कविता फूटेगी ही। कविता फूटेगी तो मिथक फूटेगा, आदिम बिम्ब फूटेंगे और मर रही कविता को सींच कर हरा करेंगे। यहां किसी के चाहने या न चाहने का प्रश्न नहीं रह जायेगा, जो होना है होगा ही—

"तुम न चाहो तो भी यह दुनिया बदलेगी।···/इस मरुप्रदेश में/वट वृक्ष की तरह फैल जाएंगी अर्थ-छायाएं।"

क्योंकि कविता बाह्यजगत की अभिव्यक्ति ही नहीं है अन्तर्जगत और बाह्यजगत के बीच संधि स्थापना है, अन्तर्मन की अनुभूति (भाव) का ऐन्द्रिय बिम्बों में अनुवाद! आदमी का सुन्दर सपना है, सुन्दर मिथक है, कल्पलोक है। तभी तो प्रस्तुत कवि कविता को इस तरह परिभाषित करता है—

"शब्द और अर्थ नहीं है कविता/सबसे सुन्दर सपना है।
सबसे अच्छे आदमी का।"

'बेहतर दुनिया के लिए' काव्य संग्रह की कविताएं अन्तर्जगत को बाह्यजगत से जोड़ती, दोनों के बीच की विसंगति को प्रस्तुत करती और अन्तर्जगत के भावों को ऐन्द्रिय बिम्बों में अनूदित करती हैं, जबकि कई कविताएं इस तथ्य को झुठलाती भी हैं, फिर भी भावसौंदर्य को व्यक्त करने वाली कविताओं का अभिनंदन है और कवि को बधाई देता हूं।

कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के अन्तिम काव्य संग्रह 'कोई मेरे साथ चले' की भी अनेक कविताएं उपर्युक्त कसौटी पर खरी उतरती हैं। इन दोनों कवियों की कविताओं से लगता है कि हिन्दी कविता में यह नयी प्रवृत्ति धीरे-धीरे बल पकड़ रही है जो अभिनंदनीय भी हो सकती है। निर्णय करने का अधिकार पाठक पर छोड़कर आगे बढ़ता हूं लेकिन दुहराव से बचते हुए।

सर्वेश्वर मानते हैं कि रचना-प्रक्रिया के दौरान कुछ न कुछ अभिव्यक्त होने से छूट जाता है, जो अभिव्यक्त से अधिक समर्थवान है।

"सिलसिलों में—/बात के, ढहता रहा कुछ मैं/बात कुछ ढहती रही मुझसे/···/स्वप्न में ढहता रहा कुछ मैं/स्वप्न कुछ ढहते रहे मुझसे/शशशश/अनबने सपने/लग गये थे काव्य में मेरे पनपने।"

जैसे बच्चा बाह्यजगत के बिंबों को देखता हुआ किलक उठता है और आत्म-विस्तार कर लेता है वैसे ही सर्वेश्वर अन्तर्जगत को अनुभव करके किलक उठता है और कविता बाह्य तर्क की अपेक्षा मिथकीय तर्क की ओर प्रवृत्त हो उठती है जैसे—

"कुछ मुझमें घट रहा है/धरती ऊपर उठ रही है/और वृक्षों ने नाचना शुरू/कर दिया है।"

जब कवि मिथकों की ओर लौटता है तो सारी प्रकृति जीवित हो उठती है। कविता के शब्द मात्र शब्द नहीं रह जाते, न ही उनके अभिधार्थ का महत्त्व रह जाता है। बल्कि कवि की अनुभूति पूर्ण संश्लिष्टता से अभिव्यक्त हो उठती है—अतिशयोक्तिपूर्ण बिम्ब बनकर, जैसे—

"पहाड़ रो रहा है, पेड़ थरथरा रहे हैं/नदियां छटपटा रही हैं धरती फफोलों से भर गयी है। इस बारिश में/···/मेरी कविता दुःख और गुस्से से भरी है/बारिश का सौंदर्य। नहीं देख पा रही है।"

कहते हैं कि आदिमानव पेड़, पौधों को अपनी ही तरह जीवित समझता था, वह उससे

बातें करता था, कवि भी अपने आदिम संस्कारों से छूट नहीं पाया, वह प्रकृति में अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है—

"बादलों में बादलों-सा/मिल गया हूं मैं।"

अथवा

"अक्सर दरख्तों के लिए/जूते सिलवा लाया/और उनके पास खड़ा रहा।"

जैसी काव्य पंक्तियां कवि की आदिम चेतना और आधुनिक चेतना के विकास को उद्घाटित करती हैं।

मानव-मुक्ति के लिए सदियों से मानव संघर्ष करता आ रहा है। इस द्वन्द्व की अनेक आद्यबिम्बों में अभिव्यक्ति हुई है, इन आद्यबिम्बों के आधार पर अनेक बिम्ब लड़ियां विकसित हुई हैं। जो द्वन्द्व सुन्दर-असुन्दर, सद्-असद्, न्याय-अन्याय, पोषण-शोषण के बीच रहा है, आज भी मौजूद है। कवि पुराने मिथकों को आज के संदर्भ देकर पुनर्जीवित करता चलता है। सर्वेश्वर की पंक्तियां हैं---

"जिस्म से बच्चे चिपकाये/एक हाथ में कलम/दूसरे हाथ में नाग का फन दबाए—/मैं उसे देखता गया/उसका रूप विराट होता गया/बच्चों की तादाद बढ़ती गई। उसका सारा देश उसमें समा गया। सांप का फन बड़ा होता गया/सारी दुनिया की शोषक ताकतें/उसमें जुड़ती गयीं/लेकिन उसकी मुट्ठी का आकार/बढ़ती जकड़ के बावजूद उतना ही रहा।"

यह ठीक है कि इस द्वन्द्व में वस्तुस्थिति तो त्रासद ही है और मुट्ठी का आकार न बढ़ने में जो पराजयबोध निहित है वह भारतीय आनंदवादी दृष्टिकोण के भी विपरीत है और भारतीय मिथक-चक्र को भी स्खलित करता है।

दुःख, पीड़ा, यातना, भय, आतंक, थकान, ऊब आदि ऐसे भाव हैं जो बाह्यजगत के बिम्बों में व्यक्त नहीं हो पाते। भीतर की आत्मीयता पर जब चोट पड़ती है तो बाहर की खूबसूरत दुनिया भी बदसूरत हो जाती है, इस आन्तरिक पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिए भी बाह्यजगत के बिम्ब सहायक होते हैं। परन्तु ऐसे बिम्ब राग और आवेग की उपज होते रहें, जिनकी जीवनी शक्ति कभी खत्म नहीं होती। ये बीज कितने ही गहरे दबे हों अन्तर्जगत के दबाव और बाह्यजगत के ताप से अंकुरित होते रहते हैं। समकालीन कविता में इनका अभिनंदन होना ही चाहिए।

□

रागात्मक सम्बन्धों की पहचान : कव्वे और काला पानी

□ डॉ० अनिल गोयल

डॉ० नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक—'कहानी : नयी कहानी' में 'नयी कहानी की पहली कृति : परिन्दे' शीर्षक लेख में निर्मल वर्मा को नयी कहानी आंदोलन को शुरू करने का श्रेय देते हुए लिखा था—"फकत सात कहानियों का संग्रह 'परिन्दे' निर्मल वर्मा की ही पहली कृति नहीं है बल्कि जिसे हम 'नयी कहानी' कहना चाहते हैं उसकी भी पहली कृति है।" परिन्दे के बाद निर्मल वर्मा ने 'पिछली गर्मियों में' तथा 'जलती झाड़ी' संग्रह दिए थे किन्तु वे परिन्दे के समान चर्चित न हो पाये। इधर सन् १९८३ में प्रकाशित उनके कहानी संग्रह 'कव्वे और काला पानी' पर वर्ष १९८५ के लिए दिए गए साहित्य अकादेमी पुरस्कार ने निर्मल वर्मा को हठात् पुनः चर्चा में ला दिया है।

'कव्वे और काला पानी' में संकलित सात कहानियों के नाम हैं—'धूप का एक टुकड़ा', 'दूसरी दुनिया', 'जिन्दगी यहां और वहां', 'सुबह की सैर', 'आदमी और लड़की', 'कव्वे और काला पानी' तथा 'एक दिन का मेहमान'। महानगरीय जीवन की चेतना से जुड़ी यह कहानियां व्यस्त और तीव्र गति से चलने वाले मध्यवर्गीय जीवन का अध्ययन परिवेश व पात्रों की मनः स्थितियों के आधार पर करती हैं। लेखक ने संजीदगी और कलात्मक संयम द्वारा अतीत और वर्तमान की स्थितियों को निरूपित करके पात्रों के अंतर्द्वन्द्व को प्रस्तुत किया है।

प्रेम दो व्यक्तियों की चाहत है और शादी दो जिन्दगियों का समझौता। प्रेम और विवाह को अलग-अलग रूपों में देखें तो प्रेम चाहत के परिप्रेक्ष्य में और शादी समझौते के परिप्रेक्ष्य में ही पूर्ण है। एक में भावुकता की अपेक्षा है तो दूसरे में भावना और विचार दोनों की—कुल मिलाकर दोनों में कुछ पाने और खोने की स्थिति बराबर बनी रहती है। व्यक्ति न भावना से और न विचार से ही छूट सकता है और यह न छूटने की स्थिति ही भारतीय संस्कृति में विवाह के नाम से जानी जाती है जिसमें विवाहोपरान्त प्रेम को महत्त्व दिया जाता है और सम्बन्ध निर्वाह की स्थिति आद्यन्त बनी रहती है। इसके विपरीत पश्चिम में प्रेम को पहले और विवाह को बाद में महत्त्व दिया जाता है। फलस्वरूप संबंधों की शुरुआत या तो स्वार्थपरता से

होती है या भावना से और व्यक्ति स्वकेन्द्रित ही रहता है। ऐसे संबंध कई बार बनने से पहले ही टूट जाते हैं या फिर बनकर टूट जाते हैं। **धूप का एक टुकड़ा** कहानी में पश्चिम में व्याप्त प्रेम और विवाह के इसी रूप की अभिव्यक्ति है। नायिका तलाकशुदा है। वह धूप के एक टुकड़े की खोज में एक बेंच से दूसरी बेंच का चक्कर काटती है और चक्कर काटने की प्रक्रिया के दौरान वह संबंधों के बनने और मिटने का जायजा यूं लेती है—"इस गिरजे में शादी करवाना बहुत बड़ा गौरव माना जाता है। लोग आठ-दस महीने पहले से ही अपना नाम दर्ज करवा लेते हैं। वैसे सगाई और शादी के बीच इतना लंबा अंतराल ठीक नहीं। कभी-कभी बीच में मन-मुटाव हो जाता है, और ऐन विवाह के मुहूर्त्त पर वर-वधू में से कोई भी दिखाई नहीं देता।"

निर्मल वर्मा की कहानियों के पात्र व्यक्तिनिष्ठ व बुद्धिजीवी हैं। वे इष्ट-अनिष्ट पर विचार करते हैं और युगव्यापी प्रश्नों में उलझ जाते हैं। कहानी में नायिका सोचती है कि जो चीजें हमें अपनी जिन्दगी को पकड़ने में मदद देती हैं, वे चीजें हमारी पकड़ के बाहर हैं। हम न उनके बारे में कुछ सोच सकते हैं, न किसी दूसरे को बता सकते हैं। जैसे "क्या आप अपनी जन्म की घड़ी के बारे में कुछ याद कर सकते हैं, या अपनी मौत के बारे में किसी को कुछ बता सकते हैं, या अपने विवाह के अनुभव को अपने भीतर दुहरा सकते हैं?... क्या आप सही उस बिन्दु पर उंगली रख सकते हैं जब आप अपने भीतर के अकेलेपन को सरकाकर किसी दूसरे को वहां आने देते हैं।" वर्मा के व्यक्तिवादी पात्र अपने आप में एक संस्था हैं जो आत्म में सर्वात्म को लीन करते हुए जीवन और उसके यथार्थ से जूझने का दुःसाहस करते हैं। अक्सर कहा जाता है कि आदमी अकेला मरता है। इसके विपरीत वर्मा का स्पष्ट कथन है कि "वह उन सब लोगों के साथ मरता है जो उसके भीतर थे, जिनसे वह लड़ता था या प्रेम करता था। वह अपने भीतर पूरी एक दुनिया लेकर जाता है। इसीलिए हमें दूसरों के मरने पर जो दुख होता है वह थोड़ा बहुत स्वार्थी किस्म का दुख है क्योंकि हमें लगता है कि उसके साथ हमारा एक हिस्सा भी हमेशा के लिए खत्म हो गया।"

जिन्दगी यहां और वहां कहानी की संचेतना जिन्दगी और मौत के बीच झूल रहे किन्हीं अर्थगर्भित सत्यों को रेखांकित करती है। आधुनिक सभ्यता की चकाचौंध और सांस्कृतिक आदर्शों की टकराहट युवावर्ग के मानसिक उद्वेलन को बढ़ाती है और उसके समस्त चिंतन को एक ऐसे बिन्दु पर ला देती है जहां उसे अपने नाम के साथ एकमात्र शब्द 'यातना' ही जुड़ा हुआ प्रतीत होता है—यूं कहिए कि उसे अपना जीवन यातना का ही प्रतिरूप लगता है, नायिका इरा अपने जीवन को यातना का प्रतिरूप मानती है इसीलिए उसकी मान्यता है कि "दुख में कोई डर नहीं होता, किन्तु जिसे हम सुख कहते हैं वह हमेशा डरों से घिरा आता है" और "सुख? क्यों कोई ऐसी चीज है जिस पर उंगली रखकर कहा जा सके, यह सुख है, यह तृप्ति है। नहीं, सुख होता नहीं, सिर्फ याद किया जा सकता है अपनी यातना में।"

'ममता' एक ऐसा शब्द है जिसके कोमल तंतुओं ने इकाइयों को शृंखला में बांध रखा है। भारतीय परंपरा के अनुसार मां-बाप बच्चे के लिए हैं और बच्चे मां-बाप के लिए, तभी तो 'घर' शब्द का अहसास उम्र भर बना रहता है और किसी एक पक्ष के न रहने से उनकी यादों व स्मृतियों को बटोरकर रखा जाता है। नायक फैटी के मां-बाप नहीं हैं, वह उनकी यादों के सूत्र से जुड़ा रहना चाहता है। वह सोचता है कि मां-बाप बच्चों से पहले इसलिए मर जाते हैं क्योंकि "वे कभी सोच भी नहीं सकते कि इतनी यातना सहकर उन्होंने जिसे जन्म दिया है, वह बड़ा होकर इतनी यातना बर्दाश्त कर सकता है।" दूसरी ओर इरा मां-बाप की इकलौती

संतान है। उसके मां-बाप की इरा के प्रति वैसी ही संवेदनाएं हैं जैसी फैटी की अपने मां-बाप के प्रति हैं। फैटी परंपराबद्ध जीवन जीना चाहता है, इरा परंपरामुक्त। वह बच्चों और मां-बाप के अत्यधिक लगाव को स्नेह का नहीं कीड़े का संबोधन देती है जो जिन्दगी भर खून से चिपका रहता है, या फिर यह कीड़ा सांप के रूप में समूची जायदाद, घर, कोठी, गहने पर फन फैलाए रहता है। वह स्वच्छन्द रहने के लिए मां-बाप को छोड़ देती है और अपनी सुरक्षा के लिए उनकी जायदाद पर आधिपत्य रख लेती है और उन सैलानियों की तरह जीना चाहती है जो नैनीताल और मंसूरी की सड़कों पर घोड़े दौड़ाते हैं क्योंकि "वे वल्गर नहीं हैं—वे बोल रहे हैं, पेंट कर रहे हैं, मैं उनमें हूं, मैं अलग नहीं हूं···।" स्पष्ट है कि इरा मात्र स्वार्थ सिद्धि के लिए मां-बाप को छोड़ रही है, दूसरे शब्दों में वह उस जिन्दगी से पलायन कर रही है जिसमें संघर्ष है। वह मां-बाप के पैसे से कीड़े की तरह चिपकी है। निर्मल यहां सिद्ध कर देना चाहते हैं कि दिल्ली हो या लंदन, पैसा ही मनुष्य-जीवन का प्रमुख संचालक यंत्र है और यह जिस किसी माध्यम से प्राप्त हो स्वीकार्य है।

पति-पत्नी संबंधों में तीसरे आदमी की परछाईं उभर आने पर गृहस्थी किस कदर बिखर जाती है 'एक दिन का मेहमान' में इस परिदृश्य को बारीकियों से उकेरा गया है। वुक्कू और उसके पति ने पश्चिम में अपनी गृहस्थी बसाई थी। बच्ची का स्नेह उनकी गृहस्थी में सेतु बना था, एकाएक एक औरत की परछाईं पड़ने से सब बिगड़ गया। सारे सुखद स्वप्न दुःस्वप्न बन गये। अब वुक्कू बच्ची सहित पश्चिम में ही रहती है और पति भारत में। एक दिन पति उन दोनों से मिलने गया। वहां उन दोनों के अपनेपन की जगह औपचारिकता व बेगानेपन ने उसका स्वागत किया। वुक्कू इस घर में उसका आना अच्छा नहीं समझती, वह उससे हर प्रकार का संबंध तोड़ लेना चाहती है। उसकी नियति भी कुछ ऐसी है कि वह उसके साथ रहना नहीं चाहती, अकेले भी नहीं रह पाती और प्रमुख समस्या यह है कि इस उम्र में वह दूसरी शादी भी नहीं कर सकती। उसका 'लीव मी अलोन' स्वर हवा में झूलता प्रतीत होता है। यह स्वर मात्र उसके दुख का संप्रेषक है, भविष्य की किसी राह का अन्वेषक नहीं। वुक्कू उसके लाये हुए तोहफों तक को हिकारत से देखती है क्योंकि "चीजें और आदमी कितनी अलग हैं। बरसों बाद भी घर, किताबें, कमरे वैसे ही रहते हैं जैसे तुम छोड़ गये थे; लेकिन लोग? वे उसी दिन से मरने लगते हैं जिस दिन से अलग हो जाते हैं···मरते नहीं, वह दूसरी जिन्दगी जीने लगते हैं, जो धीरे-धीरे उस जिन्दगी का गला घोंट देती है, जो तुमने साथ गुजारी थी।"

निर्मल वर्मा ने 'एक दिन का मेहमान' और 'दूसरी दुनिया' कहानियों में बाल मन की ग्रंथियों को उनके भाव और बुद्धि के संघर्ष द्वारा व्यक्त किया है। 'एक दिन का मेहमान' में वर्मा ने सर्वमान्य धारणा स्पष्ट की है। बच्ची को विकास के लिए मां-बाप दोनों की अनिवार्यता बराबर है। लेकिन इस बच्ची के हाथों ने "सिर्फ मां के सीमित और सुरक्षित स्नेह को छूना सीखा था, मर्द के उत्सुक और पीड़ित उन्माद को नहीं।" स्वाभाविक है कि ऐसे बच्चों की जिन्दगी अभावों की नींव पर आश्रित होती है जिसे बच्चे चाहे-अनचाहे, अकेले तय करने की नियति अपना लेते हैं। ऐसे बच्चे स्वभाव से विद्रोही और कुशाग्र बुद्धि के होते हैं। बच्ची भी जान गयी है कि "हर परिवार के अपने दुःस्वप्न होते हैं जो एक अनवरत पहिए में घूमते हैं; वह उसमें हाथ नहीं डालती थी। इतनी कम उम्र में वह इतना बड़ा सत्य जान गयी थी कि मनुष्य के मन और बाहर की सृष्टि में एक अद्भुत समानता है—वे जब तक अपना चक्कर पूरा नहीं कर लेते, उन्हें बीच में रोकना बेमानी है···।" बच्ची मां और पापा दोनों की ममता चाहती है

अतः हर स्थिति से समझौता करना चाहती है। वह मां के मन में समायी पापा के प्रति नफरत को पहचानती है, वह नहीं चाहती पापा यहां रुक कर मां को दुख पहुंचायें, दूसरी ओर वह यह भी नहीं चाहती कि पापा चले जायें। वह एक दिन की मुलाकात से संतुष्ट नहीं हो पाती और उन्हें न जाने तथा रुक जाने का आग्रह एक क्षण में ही कर बैठती है—

"क्या आपने डे रिटॅन का टिकट लिया है ?"

"नहीं, क्यों ?"

"ऐसे ही; यहां वापसी टिकट बहुत सस्ता मिल जाता है।"

"मैं आखिरी ट्रेन से लौट जाऊंगा।"

"यहां दो-तीन अच्छे होटल भी हैं···। मैं अभी फोन करके पूछ लेती हूं।"

'दूसरी दुनिया' कहानी का वातावरण भी पश्चिम का है और सर्दी के मौसम में नायक ठंड को कम करने के जो प्रयास करता है उनके साथ वर्मा ने उस बच्ची की मनः स्थितियों को व्यक्त किया है जिसके पापा बाहर काम करते हैं और मां यहां नर्स है। वह स्कूल बैग लेकर प्रत्येक दिन को पार्क में पेड़ों के बीच व्यतीत करती है और शाम को पांच बजे का गजर सुनते ही मां के पास लौट जाती है। बच्ची पार्क में "हर पेड़ के पास जाती थी, छूती थी, कुछ कहती थी, जिसे सिर्फ पेड़ सुन पाते थे। आखिर में वह मेरे पास आयी और मुझसे हाथ मिलाया, जैसे मैं उन पेड़ों में से एक हूं।" बच्ची का कुछ कहना और पेड़ों द्वारा सुनना उसके मन के अकेलेपन की भाषा के प्रतीक हैं जिसे दूर-दूर तक समझना कठिन है। नायक ने बच्ची को चार पेंस में कबूतरों को चुगाने के लिए दाने ले दिए। बच्ची की प्रतिक्रिया थी कि "वह मुड़ी और हकबका कर मेरी ओर देखा। बच्चे कृतज्ञ नहीं होते, सिर्फ अपना लेते हैं। एक तीसरी आंख खुल जाती है, जो सब चुप्पियों को पाट देती है। उसने कप को लगभग मेरे हाथों से खींचते हुए कहा 'क्या वे आयेंगे ?' बच्ची का यह प्रश्न 'क्या वे आयेंगे।' उसके चिंतन को उद्घाटित करता है जिसमें पापा के आने और न आने के अनेक चित्र बनते-मिटते हैं और उन्हें वह व्यक्त भी नहीं कर पाती। बच्ची का यह कथन परिन्दे की लतिका के कथन के समानान्तर है "क्या वे सब भी प्रतीक्षा कर रहे हैं···लेकिन कहां के लिए, हम कहां जायेंगे ?"

भावनात्मक प्रेम के साथ सेक्सीय प्रेम की अभिव्यक्ति है 'आदमी और लड़की' कहानी में। चालीस वर्षीय नायक का बसा-बसाया घर है फिर भी वह बीस वर्षीय युवती के प्रेम में रत है। लड़की किताबों की दुकान में काम करती है और आदमी के टाइपिंग के काम में हाथ बंटाती है। लड़की को पता है कि आदमी उसकी पिता की उम्र का है लेकिन वह विचारती है कि "उम्र के बारे में क्या सोचना ? वह रात की बर्फ है। सोते हुए पता भी नहीं चलता, सुबह उठो तो फाटक पर ढेर-सी जमा होती है।" जब वह रात को आदमी के लिए टाइपिंग सीखती है तो केवल मात्र आदमी के साथ के लिए "रात की वही एक घड़ी होती थी, जब वह आदमी के पास होती थी।"

'सुबह की सैर' कर्नल निहालचंद्र की जीवन-गाथा है जो किसी भी वृद्ध आदमी की हो सकती है। कर्नल निहालचंद्र सुबह-सुबह लंबी सैर को जाते हैं तो आर्मी कोट पहन लेते हैं और एक थैला व थर्मस साथ ले जाते हैं। रास्ते भर जीवन के उन सुखद क्षणों को दोहरा लेते हैं जो नौकरी में तथा पारिवारिक खुशियों के बीच बिताए हैं। वर्मा ने कहानी में छोटे-छोटे तथ्यों व निहालचंद्र के आत्मालाप द्वारा स्पष्ट किया है कि वृद्धावस्था के लिए यद्यपि हम सुख-साधनों को एकत्रित करते रहते हैं तथापि उसके कटु अनुभवों से छूट नहीं सकते और व्यवित की काया व मन

इतना शिथिल हो चुका होता है कि पहले की तरह दुःसाहस के साथ स्थितियों से समझौता भी नहीं कर पाता। उदाहरणतया निहालचंद्र अपने बेटे मुन्नू की बात पर कि—'देवीसिंह के अलावा आपके पास कोई नहीं''वह चला गया तो आप अपाहिज हो जायेंगे' गुस्सा महसूस करते हैं लेकिन उनके गुस्से का कोई अर्थ नहीं है "उनका गुस्सा बहने लगा, एक रुआंसा बेबस क्रोध, उस पानी की तरह बांझ और बेतुका जो रेगिस्तान की झुलसती जमीन पर बरसता है, बह जाता है, सूख जाता है, अपने पीछे रत्ती भर हरियाली नहीं छोड़ता।"

'कव्वे और काला पानी' इस संग्रह की सबसे लम्बी कहानी है। इसमें मानवीय रिश्तों की नीति को भाव और अर्थ की भावभूमि पर पहचाना गया है। भाइयों के बीच भ्रातृत्व का सूत्र पैसा बन गया है। सब अपने-अपने में मस्त हैं, आत्मरति में लीन हैं। वर्मा का कहना है "ज्यों ही कोई व्यक्ति हमें छोड़कर चला जाता है हम उसे अतीत में फेंककर बदला चुका लेते हैं, बिना यह जाने कि वह अब भी मौजूद है, जीवित है, अपने वर्तमान में जी रहा है, लेकिन हमारे समय से बाहर है।" ऐसे ही सहजी बाबा ने दस साल पहले घर-बार छोड़ दिया था। मां-बाप, भाइयों ने उन्हें अतीत में फेंक दिया है और अब उनके हिस्से की जायदाद को भी आपस में बांट लेना चाहते हैं। सहजी बाबा ने इन्हीं स्वार्थी वृत्तियों से घबराकर तन पर संन्यासी वस्त्र धारण किए हैं, मन से वे अभी भी पारिवारिक सदस्यों के मोह में बंधे हैं। वे ईश्वर का स्मरण नहीं करते और तर्क देते हैं "जिसके बारे में कुछ मालूम नहीं, उसका ध्यान कैसे हो सकता है।" बाबा का मत है कि दूसरों को बिल्कुल छोड़ देना संभव नहीं है। मानव की सबसे बड़ी कमजोरी है कि वह अहिंसा की दुहाई देता है जबकि कर्म करते समय हिंसा-अहिंसा के भेद भूल जाता है। यह हिंसात्मक कर्म ही है कि हम दूसरों की चीजों पर आधिपत्य जमाना चाहते हैं। सहजी बाबा भाइयों के हित में जायदाद के कागजों पर हस्ताक्षर करते हुए भाई की तरफ प्रश्न उछालते हैं, "जो आदमी नहीं रहता, क्या उसकी चीजें हमारी हो जाती हैं?" कहानी में एक ओर सहजी बाबा की निःसंग मनोवृत्ति है तो दूसरी ओर पैसे जुटाने में रत भाइयों की स्वार्थवृत्ति। मानव मन की इन वृत्तियों पर रूपक बांधते हुए वर्मा लिखते हैं "यह शहर एक तरह से ट्रांजिट स्टेशन है—कौए की योनि और निर्माण के बीच।" इस दुनिया में सब निर्माण के लिए लालायित हैं, छटपटा रहे हैं लेकिन मनुष्य जन्म पाकर भी कौए की तरह स्वार्थवश कांव-कांव कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में कौए की योनि भोग रहे हैं। कहानी में, समाज में विघटन उत्पन्न करने वाले तत्त्वों को ब्यौरों सहित प्रस्तुत किया गया है।

उपरिलिखित विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि निर्मल वर्मा मात्र नयी कहानी की कालखंड चेतना के कहानीकार नहीं बल्कि उस रागात्मक चेतना के कहानीकार हैं जिसे आज की कहानी संस्कृति और समाज के संश्लिष्ट व्यापार द्वारा अभिव्यक्त करती है। निर्मल वर्मा एक कलावादी लेखक हैं। वे कलात्मक रचाव द्वारा युगव्यापी संवेदना से जुड़े प्रश्नों को व्यक्ति और परिवेश के संदर्भ में उजागर करते है जो पाठक मन की गहराइयों का स्पर्श करते हैं। □

दो गीत

ज्योतीश्वर पथिक

एक

दूर क्षितिज तक फैले रेत के सागर में
लहरों पर छाई है अजब उदासी रे।
भटके से पदचिह्न सदा भटकाते हैं
कौन दिशा में जावो गे प्रवासी रे।

पहले जो राही इस पथ से गुजरे हैं
किसे पता है मंजिल किसने पाई है।
कौन चला है कितने पग इस मरुथल में
किसने देखी मंजिल की परछाई है।
मृगतृष्णा है, धोखा है, इक माया है
नील गगन में चांद की पूर्णमासी रे।

खिड़की के नीचे की काली सड़कों पर
कौन गिरा है जाकर किस चौराहे पर।
भटक गया है कौन यहां की भीड़ में
किसने पाई मंजिल सब कुछ खो-खोकर।
यश-अपयश के चलते चक्कर में,
किसे पता है कभी मिले रुसवाई रे।

शहर तुम्हारा कैसी भूल-भूलैयां है,
मोड़ पे, चौराहे पे, धोखा होता है।
कभी जुआरी जीत के मातम करता है,
कभी लुटाकर सब कुछ वह खुश होता है।
एक बनावट लगती है हर चेहरे पर
एक बनावट लगती है ऊभराई रे।

दो

वर्षों से सोचा करता हूं मैं अक्सर तनहाई में
पीली-पीली रंगत क्यों है सुबह की अंगड़ाई में।
बासंती रुत क्यों रहती है पीली-पीली चुनरी में
बुझी-बुझी-सी आंखें क्यों हैं इस माया की नगरी में
एक बुढ़ापा क्यों रहता है छिपा यहां तरुणाई में
वर्षों से सोचा करता हूं मैं अक्सर तनहाई में।

कितने शलभ जला करते हैं एक सुबह के आने तक
कितने शब्द मिटा करते हैं बात तनिक समझाने तक।
कितना खालीपन होता है सागर की गहराई में
वर्षों से सोचा करता हूं मैं अक्सर तनहाई में।

शस्य-श्यामला पावन धरती भरी हुई है घावों से
क्या हम मरहम कर पाएंगे अंसुवन से पछतावों से।
दर्द छिपा है कितना साथी शादी की शहनाई में
वर्षों से सोचा करता हूं मैं अक्सर तनहाई में।

इस दुनिया की रेल-पेल में कितने राही भटक गए
कुछ लोगों ने मंजिल पा ली कुछ राहों में अटक गए।
एक सादगी छिपी हुई है क्यों सबकी चतुराई में।
वर्षों से सोचा करता हूं मैं अक्सर तनहाई में ॥ □

दो कविताएं

नैरंजना के तीर

□ किरण शंकर मैत्रा

ये बात निश्चित, जानता हूं
नैरंजना के तीर एक दिन हूंगा समाधिस्थ।
तभी तो ये विपुल—आयोजन
समिध-संग्रह···
घर-संसार प्रेमिका चुम्बन,
दुहिता की वाकी-टाकी, पुतुल की चाह लेकर
बोधिवृक्ष तले पद्मासन

इसके बाद एक दिन नैरंजना के तीर
निश्चित समाधि !

समय

सामने के दांत दो पहले हिले
फिर सजी चश्मे की छतरी नाक पर
इक पताका शांति की उड़ती दिखी बालों में
अभी कल तक चक्र-चक्र काला यौवन था

धीरे-धीरे बहुत कुछ बदला धक्का
लौकिक नियमों से जब नहीं चला

किया पलायन
पहाड़ी शांति की ओर
झीरी-झीरी झरने की धारा
बर्फ से ढकी देवभूमि में
दूर पहाड़ों की ओर निमिष भर देखते
लगा
सब कुछ अर्थहीन···
एक दिन।

□

निवेदन

□ प्रकाशित रचनाओं पर नियमानुसार उपयुक्त पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है।

□ जम्मू-कश्मीर में कला, संस्कृति और साहित्य के आकलन और उसके विकास को रेखांकित करने वाली सामग्री को **शीराज़ा** में वरीयता दी जाती है।

□ रचनाएं कागज के एक ओर सुवाच्य अक्षरों में लिखकर अथवा टाइप करवा कर भेजें। कॉर्बन-कॉपी पर विचार नहीं किया जाता है।

□ स्वीकृत अथवा विचाराधीन रचनाओं की सूचना यथासमय भेज दी जाती है। अस्वीकृत रचनाओं को लेकर किसी प्रकार का पत्राचार अपेक्षित नहीं है।

□ 'पुस्तकें और पुस्तकें' स्तम्भ के अन्तर्गत समीक्षा के लिए पुस्तक की दो प्रतियां भेजना आवश्यक है।

—**सम्पादक**

कविता

गांव से लौटा उदास मन

□ भारत भारद्वाज

आम के बगीचे से
होकर
उदास मन
लौटा इस बार
गांव से

'केरवा' आम का पेड़
कट गया था,
और 'सिपिया' का कहीं पता नहीं था,
मैं नाहक ढूंढ़ता रहा,
इन पेड़ों की डालियों पर
लटके अपने बचपन के दिनों को ! □

दो कविताएं

मेरे पास हैं शब्द

□ जुगमन्दिर तायल

आपके पास है सब कुछ
विशाल कारखाने, बड़ी-बड़ी बैंक
योग्य अधिकारी, चतुर बुद्धिजीवी
रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा
पुलिस, फौज, हथियार
और जरूरत हो तो
विदेशी मदद भी।

मेरे पास हैं सिर्फ शब्द
और एक बड़ी तसल्ली
कि शब्दों को सुनने
और समझने वाले
अभी बहुत हैं।

अभी बचे हैं पेड़

कुल्हाड़ियां खूब बन रही हैं
जंगलों को निगल

कारखाने फैल रहे हैं
और बाजारों में बढ़ रही है
फर्नीचर की बेहद मांग...।

ग़नीमत है फिर भी
अभी बहुत बचे हैं
शीशम, नीम, पीपल के पेड़
और सफेद दोपहरी को ललकारती
उनकी श्यामल छाया।

जिसके पास
मैं दो घड़ी बैठ सकता हूं। □

पुस्तकें और पुस्तकें

सोनामाटी[1]

□ भारत भारद्वाज

हिंदी कथा-साहित्य में विवेकीराय की पहचान मूलतः स्वातंत्र्योत्तर भारतीय ग्रामीण-जीवन के यथार्थ को चित्रित करने वाले कथाकार के रूप में रही है। चूंकि वे गांव से जुड़े हैं, इसलिए बार-बार अपनी कथा-कृतियों में वे ग्रामीण-जीवन के यथार्थ की जटिलता को पकड़ने की कोशिश करते हैं। उनके इस नये महत्त्वाकांक्षी उपन्यास 'सोनामाटी' का कथा-परिवेश भी ग्रामीण-अंचल ही है, यद्यपि इसका परिवेश व्यापक है। 'समकालीन जीवन-संघर्ष''' किस सीमा तक एक अंचल का है और कहां तक वह व्यापक राष्ट्रीय जीवन के यथार्थ से जुड़ा है' इसकी पड़ताल का आग्रह वे 'दो शब्द' में करते हैं।

'सोनामाटी' का कथा-केन्द्र उत्तर प्रदेश के पूर्वी अंचल बलिया-गाजीपुर जनपद का 'करइल' क्षेत्र है। भारतीय ग्रामीण जीवन में स्वतंत्रता पश्चात, लोकतंत्र की स्थापना के बाद, जो सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक मूल्यों का ह्रास हुआ है; जमींदारी-उन्मूलन के बाद भूमिपतियों और पूंजीपतियों का नया वर्ग उभरा है, वह किस तरह निम्न-मध्यवर्गीय किसानों, श्रमिकों एवं स्कूल अध्यापकों का शोषण कर रहा है इसी सामाजिक यथार्थ को विवेकीराय ने इस उपन्यास में प्रस्तुत करने की कोशिश की है।

'करइल' अंचल के गांवों में स्पष्टतः आज दो वर्ग हैं—एक वर्ग है गठिया के बाबू हनुमान प्रसाद उर्फ 'करइल', महुआरी के बाबू दीनदयाल एवं चटाई टोला के नवीन बाबू का। ये बड़े भूमिपति -- सामंती अवशेष—हैं जो अपनी 'गुंडई' के बल पर आर्थिक और राजनीतिक शोषण कर रहे हैं। दूसरा वर्ग है निम्न-मध्यवर्गीय छोटे किसानों का जिसके प्रतिनिधि रामरूप, सीरीभाई और असंख्य छोटे किसान हैं जो इन भूमिपतियों के शोषण के शिकार हैं। रामरूप एवं भारतेन्दु पेशे से अध्यापक हैं। लेकिन रामरूप किसान भी है।

यद्यपि उपन्यास का केन्द्रीय पात्र रामरूप है लेकिन उपन्यासकार की दृष्टि गठिया के बाबू हनुमान प्रसाद उर्फ 'करइल' जो संयोग से रामरूप का ससुर भी है, के कुकृत्यों को उभारने

१. सोनामाटी, ले० विवेकीराय, प्र० प्रभात प्रकाशन, २०५ चावड़ी बाजार, दिल्ली-६, प्र० सं० १९८३, आकार डिमाई, पृ० सं० ४६४ सजिल्द, मूल्य ६०.००

में अधिक रमी है। 'करइल' जैसे लोगों के कारण ही सोनामाटी की संभावना वाले इस क्षेत्र में आज गांव की जिन्दगी नारकीय हो गयी है। करइल अंचल के गांवों की गर्दन आज हनुमान प्रसाद जैसे लोगों के हाथों दब रही है और मुक्ति का कोई रास्ता नहीं। जमीन हड़पना तो मामूली बात है, अपनी काम-पिपासा शांत करने के लिए गांवों की भोली-भाली 'चिरइयों' तक को ये नहीं छोड़ते। ऊपर से स्मलिंग का धंधा और राजनीतिक संरक्षण। अंचल के हर विकास के काम में बाधा डालना 'करइल' जी का मुख्य 'गुण' है और अपनी चालबाजी एवं धूर्तता के कारण रामरूप जैसे बौद्धिक प्राणी भी इसके शिकार होते हैं। यहां तक कि 'खोरा' जैसा कवि-व्यक्तित्व भी सत्ता के पक्ष में चला जाता है। रामरूप अध्यापक भी है और किसान भी। वह संघर्ष भी करना चाहता है और किसान की मर्यादा निभाना भी। रामरूप में परिवर्तन की आकांक्षा है, विरोध की चेतना भी। वह सोचता है 'गलत हाथ गरदन दवा रहे हैं तो रामरूप अब उन्हें झटक देगा।' (पृ० ३७२) लेकिन वह अपने मध्यवर्गीय संस्कारों से ऊपर नहीं उठ पाता, न ही कोई प्रतिरोधात्मक विकल्प ही तैयार कर पाता है। उसका बौद्धिक छद्म विद्रोही मन 'करइल' (हनुमान प्रसाद) के सारे कुकृत्यों पर प्रतिक्रिया तो करता है लेकिन उसके विद्रोह की चेतना मुखर नहीं हो पातीं। 'पंचबिगहिया' जमीन की रजिस्ट्री का अपने ससुर द्वारा दिया गया झूठा आश्वासन उसे खुलकर विद्रोह करने नहीं देता। वह बार-बार अपनी अवसरवादी नपुंसकता का परिचय देता है। भारतेन्दु में अवसरवादी रंग गाढ़ा है जो अवसर पाते ही सामने आ जाता है।

उपन्यास में ग्रामीण अंचल के हर्ष-विषाद ही नहीं, पर्व-त्योहार, लोकगीत, लोक-संस्कृति का भी खूब वर्णन है।

निश्चित रूप से विवेकीराय की दृष्टि यह रही है कि आज के भारत के गांवों की गलाजत को—शोषण की भीषणता के साथ —सामने लाया जाये। एक हद तक इसमें वे सफल भी हुए हैं और इस रूप में कमोबेश आज भारत के प्रायः हर गांव में वही हो रहा है। लेकिन मात्र जो दीख रहा है उसी का वर्णन या बयान तो यथार्थ नहीं है। यह तो यथार्थ की ऊपरी परत है। असली यथार्थ तो उपन्यासकार की नजरों से ओझल है—वे अदृश्य हाथ जो लोकतंत्र की लगाम थामे हैं, यानी राजनीतिक व्यवस्था। विवेकीराय में वह अन्तर्दृष्टि नहीं है कि यथार्थ की जटिलता को पकड़ पायें। ग्रामीण-जीवन के क्षय हो रहे मूल्यों की पुनर्स्थापना की भी एक रोमांटिक ललक उनमें है। उपन्यास में नक्सलवाद के रूप में उभर रही प्रतिरोधात्मक शक्तियों का संकेत भर है कोई विकल्प नहीं। उपन्यासकार का 'विजन' स्पष्ट नहीं है।

इस उपन्यास का प्रकाशन १९८३ में हुआ। तब से लेकर अब तक —दो-ढाई वर्षों में इस उपन्यास पर खूब चर्चा हुई है। हिन्दी के तीन-चार प्रसिद्ध कथा-समीक्षकों ने एक साथ इसे अच्छा या बुरा कहा है। इन समीक्षकों को देखकर तो यही लगता है कि हिन्दी उपन्यासालोचन के प्रतिमान अभी बन ही रहे हैं, नहीं तो एक-साथ, एक ही समय में एक ही कृति श्रेष्ठ और सामान्य नहीं होती। इन समीक्षाओं के दो ध्रुवांतक छोर हैं। इस उपन्यास पर हिन्दी के प्रसिद्ध कथा-समीक्षक डॉ० गोपालराय की यह राय है—"विवेकी राय के 'सोनामाटी' का प्रकाशन—यह बात मैं पूरे उत्तरदायित्व और प्रमाण के साथ कह रहा हूं—'गोदान' के बाद ग्राम्य-जीवन पर आधारित उपन्यासों की परंपरा में एक 'घटना' या 'मील का पत्थर' है। 'गोदान' के बाद ग्रामीण-जीवन पर आधारित जिन उपन्यासों की विशेष चर्चा हिन्दी में हुई उनमें 'बलचनमा', 'मैला आंचल' और 'राग दरबारी' प्रमुख हैं। मैं विश्वास के साथ कह सकता हूं कि 'सोनामाटी'

संवेदना, अनुभूति, विजन, शिल्प और भाषा की दृष्टि से इन सभी उपन्यासों से बढ़कर है और 'गोदान' की परंपरा में द्वितीय सर्वश्रेष्ठ रचना है।' ('समीक्षा', अप्रैल-जून, १९८३, पृ० १) दूसरी तरफ मधुरेश का निष्कर्ष यह है—'अपने वर्तमान रूप में यह एक विकट और वास्तविक दैत्य से लकड़ी की तलवार भांजकर लड़ी गयी लड़ाई से भिन्न और कुछ नहीं है।' (आलोचना-७१, अक्तूबर-दिसम्बर ८४) एक अन्य आलोचक डॉ० परमानंद श्रीवास्तव की प्रतिक्रिया गौर करने लायक है—'किसी भी अर्थ में 'सोनामाटी' को महान् उपन्यास कहना अतिशयोक्ति होगी।' ...'सोनामाटी' - जैसा बड़े फलक पर लिखा गया उपन्यास परिचित तथ्यों से ही पुनः परिचय कराता है।...अपनी संपूर्णता में यह उपन्यास अधिक-से-अधिक विषाद जगाता है, विचलित नहीं करता है।' (आलोचना-७२, जून-मार्च ८५) ऊपर गोपालजी ने जिस 'विज़न' के कारण इस उपन्यास को श्रेष्ठ माना है, आगे चलकर अपनी उसी समीक्षा में वे लिखते हैं—'उपन्यास-कार पाठकों को यथार्थ के नग्न संसार में लाकर खड़ा कर देता है, उसमें से निकलने के लिए किसी मार्ग का संकेत नहीं करता।... निश्चय ही इस सम्बन्ध में उपन्यासकार की दृष्टि साफ नहीं है।' (वही) निश्चय ही यदि उपन्यासकार ने सामाजिक यथार्थ की जटिलता को सही दृष्टि से देखने की कोशिश की होती तो यह उपन्यास वि[illegible]ता के आरोप से मुक्त होता। मात्र ग्रामीण-जीवन पर केन्द्रित होने और अपने वृहत् कलेवर क कारण ही कोई उपन्यास 'गोदान' की परंपरा में नही आ जाता।

उपन्यास की संरचना में चुस्ती नहीं है। उपन्यास के पात्र कम बोलते हैं उपन्यासकार की टिप्पणी ही अधिक है। यही कारण है कि कहीं-कहीं वर्णन में भी शिथिलता है और ऊबाऊपन भी। डॉ० परमानंद श्रीवास्तव ने ठीक लिखा है कि 'सोनामाटी में जो भी परिवर्तन होता है गिरावट की दशा में ही।' इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यासकार यह मान बैठा है कि सूरत अब बदली नहीं जा सकती। यही कारण है कि विकल्प की संभावना से भी टकराने की आवश्यकता नहीं समझता।

इस उपन्यास की भाषा में भोजपुरी शब्दों का खुलकर प्रयोग किया गया है। एक ही उपन्यास में भाषा के कई-कई स्तर हैं जिससे अहिंदीभाषी पाठकों को अवश्य कठिनाई होगी। एक तरफ—'अन्तस्तल की कितनी भी गहराई में बात छिपी हो उसके अव्यक्त आभास की पकड़ सूक्ष्म परिवेश को चीरकर संबंधित वृत्त के भीतर स्पन्दित हो जाती है' (पृ० ९३) दूसरी तरफ—'हमरे गांव में भी एक जने के कपार पर बुढ़ौती में सनक सवार भइल बा। भर महीना भइल होई कि कविता कीनि के आइलि।' (पृ० ५५) लेकिन उपन्यास की भाषा में सर्जनात्मकता भी है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। शब्द-सौंदर्य और बिम्बात्मकता के भी कई उदाहरण हैं—'दूर से देखने वालों को लगता होगा, सरसों की छब्बेदार फुनगियों पर बैठे लोग उड़ते जा रहे हैं। (पृ० १२४) 'कइनि की तरह कसी थी वह कोइली।' (पृ० ५६)।

कुल मिलाकर उपन्यास में आज के गांवों के यथार्थ का चित्रण अच्छा हुआ है। राजनीति के दांव-पेंच के कारण कहीं यह यथार्थ राष्ट्रीय जीवन के यथार्थ से भी जुड़ा है।

उपन्यास की प्रस्तुति एवं गेटअप की तारीफ की जानी चाहिए।

□

अकादमी डायरी

□

* १३ फरवरी १९८६ को प्रतिष्ठित नृत्यांगना श्रीमती शोभना राधाकृष्ण ने अभिनव थियेटर, जम्मू में भरत नाट्यम का कार्यक्रम प्रस्तुत किया। शोभना जी ने विशेष रूप से अपने अभिनय पक्ष से दर्शकों को अभिभूत किया। तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री जी० एम० शाह समारोह के मुख्य अतिथि थे।

* २८-२९ मार्च १९८६ को अकादमी की ओर से श्री कविरत्न के निर्देशन में बादल सरकार लिखित 'स्पार्टकस' के मंचन का आयोजन किया गया। शोषित और शोषक के संघर्ष को तीव्रता से अभिव्यक्ति देने वाले इस नाटक में पहली बार कविरत्न ने ऐसे अनेक अभिनेताओं को गम्भीर नाट्यकर्म के प्रति आकर्षित किया जो इससे पहले केवल रामलीलाओं के मंच पर ही दिखाई देते थे। सेनापति क्रासुस की भूमिका में राजसिंह तथा वारीनिया की भूमिका में रूबिंदर कौर रूबी ने विशेष रूप से प्रभावित किया। मार्टिन लूथर किंग के स्वतंत्रता-संघर्ष के अमर गीत 'होंगे कामयाब एक दिन' का कविरत्न ने बड़ी सूझबूझ से उपयोग किया है। इससे पहले गुलामों की मार्मिक दशा और मुक्ति की छटपटाहट को 'जुल्म ढा ले', सितम ढा ले। हमारे भी तो दिन है आनेवाले' पंक्तियों में बड़ी शिद्दत से उभारा गया था। संगीत का जादू कहें या पंक्तियों में छुपी आशावादिता—आज भी लोगों को यह पंक्तियां गुनगुनाते हुए सुना जा सकता है। इसी प्रकार नाटक के अंत में तमाम गुलामों के सम्मिलित घोष की आवृत्ति—'हम फिर लौटेंगे, लाखों की तादाद में, करोड़ों की तादाद में' नाटक को एक प्रभावपूर्ण अंत प्रदान करती है। यह असम्भव भी नहीं लगता क्योंकि वारीनिया के विश्वास में ही नहीं क्रासुस और लेंटीलियस के मन में भी स्पार्टकस जिंदा है··· वह मरा नहीं है, जिन्दा है। 'स्पार्टकस' नेतृत्व के अद्‌भुत गुणों से युक्त है···वह हर उस स्थान पर जिंदा है जहां अधिकार और सच्चाई की लड़ाई लड़ी जा रही है।

यद्यपि बादल सरकार ने इस नाटक की कल्पना खुले मंच को ध्यान में रखकर की है और उसने एक से अधिक सूत्रधारों की अवधारणा की है किन्तु एक कालखंड विशेष के नाटक को वर्तमान से काटने के लिए कविरत्न ने इसे परम्परागत रंगमंच पर, परम्परागत रोमन वेश-भूषा के साथ प्रस्तुत कर उस कालखंड को साकार करने में सफलता पाई है। यहां यह मुद्दा विवाद का विषय हो सकता है कि ऐसे यथार्थवादी नाटक को परम्परागत तरीके से मंचित करने के सिवाय कोई अन्य विकल्प है भी या नहीं। दूसरी जगहों पर हुए 'स्पार्टकस' के मंचन की रपटों और चित्रों को देखकर यही लगता है कि इन प्रस्तुतियों के निर्देशकों ने वेष-भूषा के रोमन होने को अनावश्यक माना है। कविरत्न को अपने अभिनेताओं के उच्चारण पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है। यह प्रस्तुति का सबसे कमजोर पक्ष था। □

सांस्कृतिक समाचार

□

७-९ मार्च १९८६ को हिन्दी साहित्य की महान् विभूति, अद्भुत रचनाकार 'अज्ञेय' जी के पचहत्तरवें जन्मदिन पर संस्कृति प्रतिष्ठान दिल्ली द्वारा तीन दिन के समारोहों का आयोजन किया गया। ७ मार्च की शाम इंडिया इंटरनेशनल सेन्टर में 'सर्जना : दृष्टि और सम्प्रेषण' विषय पर आयोजित सेमिनार का उद्घाटन डॉ० कर्णसिंह तथा प्रो० वी० के० गोकाक के द्वारा विषय प्रवर्तन से हुआ। तत्पश्चात श्री रघुवीर सहाय ने 'अज्ञेय' की कविताओं का भावपूर्ण प्रस्तुतीकरण किया। यह अपने में एक सफल प्रयोग था और हम सबके लिए एक अनोखा अनुभव। बाद में सुश्री माधवी मुद्गल और गुरु केलुचरण महापात्र ने ओडीसी नृत्य प्रस्तुत किया। 'अज्ञेय' जी की कविताओं के साथ विद्यापति के पदों पर आधारित इस आयोजन का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व था कि इसमें प्रस्तुत नृत्यों की रचना अवसरानुकूल तथा शैली और शिला के धरातल पर अद्भुत थी।

८ मार्च को 'सर्जना : सम्प्रेषण और दृष्टि' विषय पर पूरे दिन के सेमिनार का आयोजन था जिसकी अध्यक्षता प्रो० दयाकृष्ण ने की और जिसके भिन्न-भिन्न सत्रों का संचालन जाने-माने साहित्यकारों ने किया। ७ मार्च की शाम डॉ० कर्णसिंह ने विषय प्रवर्तन करते हुए कहा था कि 'सर्जना तो सृजन में ही उपलब्ध है'' इसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता। जब एक 'विज़न' सम्प्रेषित हो जाता है तो वह अपने में पूर्ण होता है।' वस्तुतः पूरे सेमिनार में सर्जना को लेकर उलझाव की स्थिति थी। सृजना को दो टूक शब्दों में विश्लेषित या व्याख्यायित कर पाना किसी के लिए भी सहज या सरल नहीं था। श्री विद्यानिवास मिश्र ने 'विज़न' को शिव की तीसरी आंख मानते हुए कहा कि स्रष्टा के विलयन से तीसरी आंख का उदय होता है···तीसरी आंख खुलती है तो संहार करती है और जिसका संहार करती है उसे अनंग बनाकर अमर कर देती है। उन्होंने यह भी माना कि कला के पूर्व की सृष्टि—क्षण—कला नहीं है, उसके उतार का क्षण ही कला है। इन्द्रनाथ चौधुरी की दुविधा थी कि सृजन की शक्ति भीतर से मिलती है या बाहर से, कहना कठिन है। कथाकार गोविन्द मिश्र इसके विपरीत अपने अनुभव के आधार पर यह बता रहे थे कि हमारा भ्रम है कि हम रचते हैं···असली भाव किसी दूसरे के हैं। उनका यह भी मानना था कि कठिन शब्दों का जाल सम्प्रेषण में अवरोधक का

काम करता है। प्रो० अत्तरसिंह का सुविचारित मत था कि जो सर्जन दृष्टि से रहित है और जो सम्प्रेषित नहीं हो सकता, उसे सर्जन नहीं कह सकते। आशीष नन्दी सर्जना की तलाश रोज़मर्रा के जीवन में करते हैं। उनके लिए Survival becomes a statement of creativity ...one who creates and then explains or analyse is a different person at both the times. निर्मल वर्मा के लिए साहित्य के संदर्भ में कला का सत्य दूसरे संकायों में मिलने वाले सत्य से भिन्न है। एक ही रचना दो अलग-अलग व्यक्तियों को एक ही समय अच्छी लगती है पर दोनों के कारण भिन्न होते हैं। वे इन भावात्मक उद्वेगों को Specific मानते हैं इसीलिए उनका प्रश्न है कि अर्थपूर्ण सामंजस्य कलाकृति में दिखाई देता है या गृहीता में ? बहस में सर्वश्री छगन मोहता, रमेशचन्द्र शाह, नरेश मेहता, रायकमल राय, अनिल बोर्डिया, रामस्वरूप चतुर्वेदी, मुकुन्दलाठ, रमेश मेहता, सुधीर कक्कड़, नन्दकिशोर आचार्य, शीन काफ़ निज़ाम, चन्द्रकान्त बांदिवड़ेकर, जे० एल० मेहता, गिरिराजकिशोर, ए० के० सरन, बीरेन्द्र भट्टाचार्य, लोथार लुत्से, अजित कुमार, मानस मुकुलदास, रामचन्द्र गांधी, राजाराव, एम० एस० सथ्यू, राजीव वोरा, शंकरदयाल सिंह तथा लक्ष्मीमल्ल सिंघवी ने भी भाग लिया।

८ मार्च की सुबह वात्स्यायन जी के निवासस्थान पर श्री कुमार गन्धर्व जी के गायन का आयोजन था। उनके प्रति धन्यवाद ज्ञापन करते हुए वात्स्यायन जी ने सर्जना के संदर्भ में अपनी कविता-पंक्तियों के भावानुवाद को दोहराकर दो-दिन चले सेमिनार को समेटा था— हम लेते हैं···आंचल पसार कर···वह कहां से आता है···हम नहीं जानते।

रेणु ने जिन 'अज्ञेय' को अदृश्य···अलख···अकेला···लेखक माना है, वे कभी अकेले और कभी सबको साथ लेकर चलते हुए जीवन के पचहत्तरवें पड़ाव पर आ खड़े हुए हैं। उन्हें हम सबकी बधाई !

—रमेश मेहता
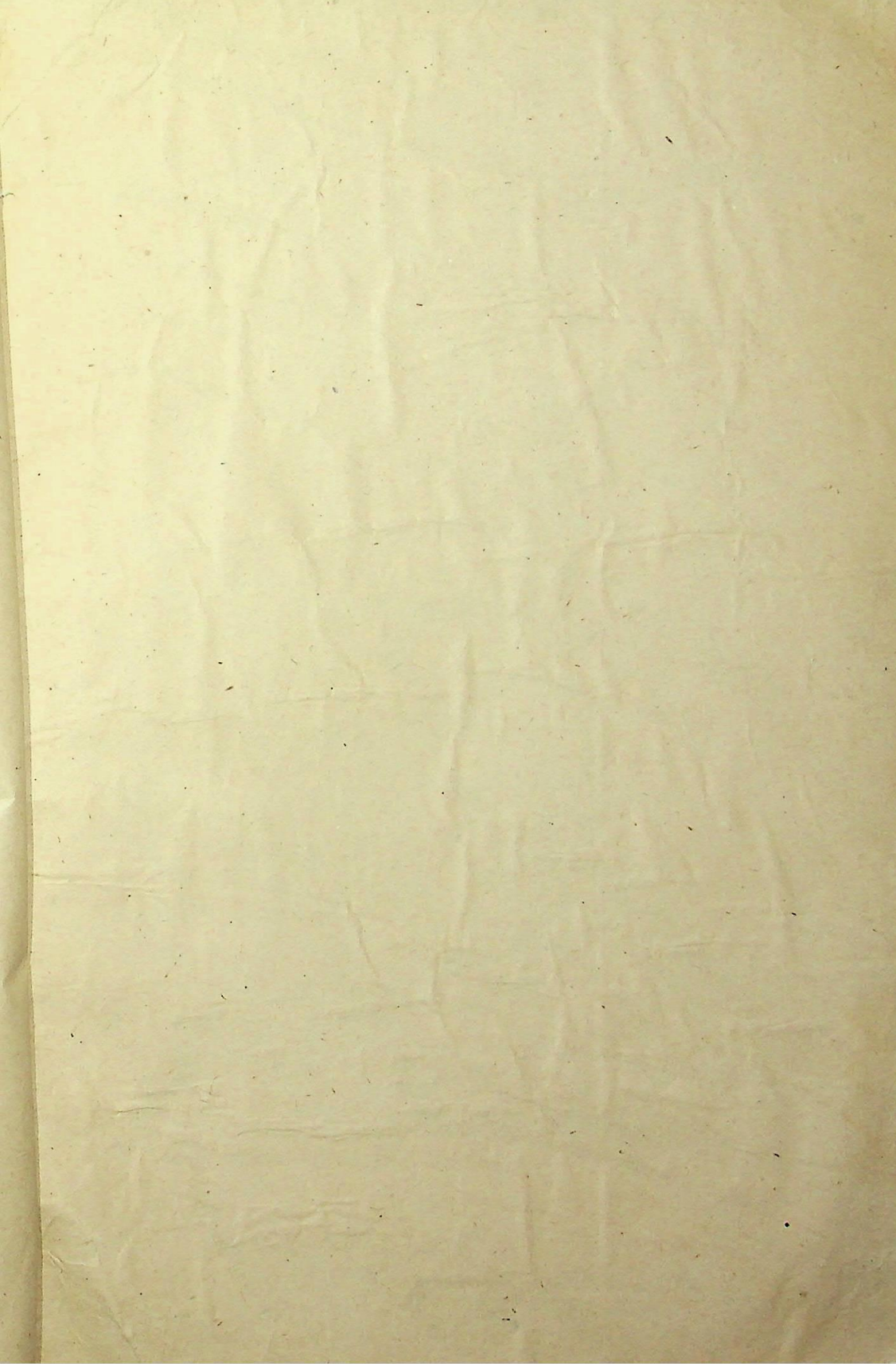
द्विमासिक **शीराज़ा** हिन्दी

78

वर्ष २१ / अंक ६
(फरवरी-मार्च १९८६)

•

प्रमुख सम्पादक
मुहम्मद यूसुफ़ टेंग

•

सम्पादक
रमेश मेहता

•

पत्र-व्यवहार

सम्पादक
शीराज़ा हिन्दी
जे० एण्ड के० अकादमी आफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज, नहर मार्ग, जम्मू।
फोन : ५०४०

•

मुद्रक :
रूपाभ प्रिंटर्स
शाहदरा, दिल्ली-३२

•

यह अंक : दो रुपये
वार्षिक शुल्क : दस रुपये

अनुक्रम